मगनलाल छगनलाल (प्राइवेट) लिमिटेड

बनाम

बृहत्तर मुम्बई नगरनिगम और अन्य

[Maganlal Chhagganlal (P) Ltd.

Vs.

Municipal Corporation of Greater Bombay and Others]

पार्वतीबाई पुण्डलीक लेगाड़

बनाम

प्रधान न्यायाधीश, सिटी सिविल न्यायालय और अन्य

(Parvatibai Pundalik Legad

Vs.

The Principal Judge, City Civil Court Bombay and Others)

उमर हबीब और अन्य

बनाम

जे० आर० विमदलाल और अन्य

(Umar Habib and Others

Vs.

J. R. Vimadalal and Others)

और

बीबी बतूल और अन्य

बनाम

जांच अधिकारी और अन्य

(Bibi Batool and Others

Vs.

Enquiry Officer and Others)

(11 अप्रैल, 1974)

(मुख्य न्यायाधिपति ए० एन० रे, न्या० डी० जी० पालेकर, एच० आर० खन्ना, के० के० मैथ्यू, ए० अलगिरिस्वामी, पी० एन० भगवती, और वी० आर० कृष्ण अय्यर)

संविधान—अनुच्छेद 14 —बाम्बे म्युनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट, 1883, अध्याय 5-ए तथा बाम्बे गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट, 1955 (जैसे कि वह 1969 के महाराष्ट्र अधिनियम संख्या 12 द्वारा संशोधन से पूर्व था)—सांविधानिक विधिमान्यता—उक्त अधिनियमों द्वारा नगरपालिक तथा सरकारी परिसरों के अधिभोगियों के लिए विशेष प्रक्रिया का उपबन्ध किया जाना—नगरनिगम अथवा राज्य सरकार को दो प्रक्रियाएं उपलब्ध होना जिनमें से एक प्रक्रिया साधारण विधि के अधीन और दूसरी प्रक्रिया उक्त दोनों अधिनियमों के अधीन उपलब्ध होना—उक्त अधिनियमों के अधीन उपबन्ध, अपनाई जाने वाली प्रक्रिया की बाबत मार्गदर्शक सिद्धान्तों के अभाव में, संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं करते हैं। (नार्दर्न इण्डिया केटरर्स बनाम पंजाब राज्य में बहुमत के निर्णय को उलट दिया गया)।

इस मामले में पिटीशनर तथा अपीलार्थियों ने बाम्बे म्युनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट, 1883 के अध्याय 5-ए तथा बाम्बे गवर्नमेंट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट, 1955 के उपबन्धों को चुनौती दी है। चुनौती का मुख्य आधार यह है कि वे उपबन्ध भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करते हैं। आक्षेप मुख्य रूप से नार्दर्न इण्डिया केटरर्स बनाम पंजाब राज्य वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए बहुमत के निर्णय पर आधारित है जिसमें कि पंजाब पब्लिक प्रेमिसेज एण्ड लैण्ड एविक्शन एण्ड लैण्ड रिकवरी ऐक्ट, 1959 को भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 की दृष्टि से विधिशून्य अभिनिर्धारित किया गया था। उच्चतम न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष जो प्रश्न इस मामले में विनिश्चय के लिए रखा गया है वह यह है कि क्या पूर्वतर मामले में दिया गया विनिश्चय-आधार बाम्बे म्युनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट तथा बाम्बे गवर्नमेंट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट, 1955 को लागू होता है या नहीं। रिट पिटीशनों को खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—न्यायालय के समक्ष जो दो प्रकार के मामले हैं उन द्वारा यह स्पष्ट रूप से अधिकथित किया गया है कि उनके पीछे प्रयोजन क्या है अर्थात् यह कि निगम तथा सरकार के परिसर उनका अधिभोग रखने वाले अप्राधिकृत व्यक्तियों की बेदखली के मामले में द्रुत प्रक्रिया के अधीन होने चाहिएं। जिन प्राधिकारियों को शक्ति प्रदत्त की गई है उनके लिए यह पर्याप्त मार्गदर्शन है। परिनियमों में स्पष्ट रूप से ऐसा संकेत दे दिए जाने पर सम्बद्ध प्राधिकारियों से यह प्रत्याशा की जा सकती है कि वे अधिनियमों द्वारा विहित प्रक्रियाओं से लाभ उठाएंगे और मामूली सिविल न्यायालय की विस्तृत प्रक्रिया का सहारा नहीं लेंगे। सामान्य रूप से भी यह नहीं सोचा जा सकता है कि किसी

अधिकारी को, जिसके पास दो प्रक्रियाओं का चुनाव हो जिनमें से एक उसे इस योग्य बनाती है कि वह सम्पत्ति का तुरन्त कब्जा ले सकता है और दूसरी लम्बी प्रक्रिया है, पश्चादुक्त लम्बी प्रक्रिया का सहारा लेने की अनुज्ञा हो। प्रशासनिक प्राधिकारी भी न्यायालयों के समान शून्य में कृतशील नहीं होते हैं। यह अभिनिर्धारित करना अत्यन्त अवास्तविक होगा कि कोई प्रशासनिक प्राधिकारी सम्पत्ति अथवा नगरपालिका की सम्पत्ति के अप्राधिकृत अधिभोगियों की बेदखली के लिए कार्यवाही करते हुए एक मामले में तो अधिनियमों द्वारा विहित प्रक्रिया का सहारा ले और दूसरे मामले में मामूली सिविल विधि का सहारा ले। इन दोनों अधिनियमों के उपबन्धों को इस काल्पनिक सिद्धान्त के आधार पर रद्द नहीं किया जा सकता है कि शक्ति का प्रयोग ऐसी अवास्तविक रीति में किया जाएगा। इस बात पर विचार करने में कि क्या अधिकारी एक प्रकार के अधिकारियों तथा दूसरे प्रकार के अधिकारियों के बीच विभेद करते हैं, न्यायालय को सामान्य मानविक व्यवहार पर विचार करना होगा न कि असाधारण व्यवहार पर। प्रत्येक काल्पनिक विभेद की सम्भाव्यता पर विचार न करते हुए विभेद के वास्तविक जोखिम पर ही विचार करना चाहिए। यह उन मामलों में से नहीं है जहां कि विभेद परिनियम पर स्पष्ट रूप से अंकित हो। हो सकता है कि विभेद किया गया हो किन्तु यह अत्यन्त अनधिसम्भाव्य है और यदि वास्तविक पद्धति में विभेद किया भी गया हो तो यह न्यायालय शक्तिहीन नहीं है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य कि विधानमण्डल का यह विचार था कि मामूली प्रक्रिया सरकार तथा निगम की सम्पत्ति के अप्राधिकृत प्राधिकारियों को बेदखल करने में अपर्याप्त अथवा निष्प्रभावी है और उसके द्वारा उसके लिए एक विशेष द्रुत प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है उन प्राधिकारियों के लिए स्पष्ट मार्ग दर्शन है जिन पर कि अप्राधिकृत अधिभोगियों का कर्तव्य रखा गया है। इसलिए न्यायालय नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में बहुमत के निर्णय से सहमत होने में असमर्थ है। (पैरा 15)

यहां यह जोड़ दिया जाए कि उस विनिश्चय का आधार यह है कि अधिनियम की धारा 5 कलक्टर को इस योग्य बनाती है कि वह धारा 5 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध विभेद कर सके और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध वाद ला कर कार्यवाहियां संस्थित कर सके। उस आधार पर की गई कार्यवाहियों में बहुमत के निर्णय में एक स्पष्ट गलती की गई है। अधिनियम की धारा 4 के अधीन कलक्टर की यह राय है कि यदि कोई व्यक्ति किसी लोक परिसर का अप्राधिकृत अधिभोग रखता है और उसे बेदखल किया जाना है तो वह लिखित रूप में नोटिस जारी करेगा जिसमें ऐसे व्यक्ति से यह अपेक्षा की

गई हो कि वह इस बात का हेतुक दर्शित करे कि उसके विरुद्ध बेदखली का आदेश क्यों पारित न किया जाए। इस प्रकार कलक्टर के पास नोटिस जारी करने के सिवाय कोई भी प्रनुकल्प नहीं है। किन्तु ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किए गए हेतुक तथा साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् और उसे सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर देने के पश्चात् वह बेदखली का आदेश दे सकता है। इसलिए यदि उसकी राय है कि यह मामला ऐसा मामला है जहां कि वाद अधिक समुचित उपचार होगा क्योंकि मामले की परिस्थितियां ऐसी हैं या उसकी प्रकृति बहुत जटिल है तो यह हो सकता है कि वह बेदखली का आदेश न दे। ऐसी दशा में वाद लाने का कार्य सरकार द्वारा किया जाएगा। यह काम कलक्टर का नहीं है। कलक्टर को ऐसा कोई विवेकाधिकार प्राप्त नहीं है कि वह कोई वाद फाइल करे या अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां करे। और न ही सरकार कलक्टर को यह आदेश दे सकती है कि वह धारा 5 के अधीन प्रत्येक मामले में बेदखली का आदेश दे क्योंकि उस धारा के अधीन शक्ति कलक्टर की कानूनी शक्ति है। इस प्रकार बहुमत के निर्णय में, धारा 4 के अधीन सूचना की लाजिमी प्रकृति की उपेक्षा किए जाने के कारण और धारा 5 के अधीन विवेकाधिकार की शक्ति को ध्यान में रखते हुए जिसका प्रयोग पक्षकार की सुनवाई करने के पश्चात् करना होता है, यह गलती थी कि उसमें केवल धारा 5 के आधार पर कार्यवाही की गई थी और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उसके द्वारा कलक्टर को यह मनमानी शक्ति प्रदत्त की गई है कि वह कुछ व्यक्तियों की दशा में अधिनियम के अधीन शक्ति का आश्रय लें और अन्य व्यक्तियों की दशा में वाद ला कर कार्यवाही करे। (पैरा 16)

यहां इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि विचाराधीन दोनों अधिनियमों द्वारा अधिकथित प्रक्रियाएं इतनी कठोर अथवा कष्टप्रद नहीं हैं कि उनसे यह सुझाव मिल सके कि यदि कुछ मामलों में इन दोनों अधिनियमों के उपबन्ध का आश्रय लिया जाता है और अन्य मामलों में साधारण सिविल न्यायालय का आश्रय लिया जाता है तो इनसे विभेद होगा। यद्यपि इन प्रश्नों का विनिश्चय करने वाले अधिकारी प्रशासनिक अधिकारी होंगे, इन अधिनियमों में इस बात का उपबन्ध है कि प्रभावित पक्षकार को ऐसा नोटिस दिया जाए जिसमें उसे उन आधारों से अवगत कराया गया हो जिन पर कि बेदखली का आदेश दिए जाने की प्रस्थापना है जिससे कि प्रभावित पक्षकार लिखित कथन फाइल कर सके और दस्तावेज़ प्रस्तुत कर सके और उसका प्रतिनिधित्व वकीलों द्वारा किया जा सके। लोगों को समन करने तथा उन्हें हाजिर कराने सम्बन्धी तथा उनकी शपथ पर परीक्षा करने सम्बन्धी सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबन्ध एवं दस्तावेजों की प्राप्ति तथा उनके पेश किए जाने की अपेक्षा सम्बन्धी उपबन्ध

प्रभावित व्यक्ति के लिए मूल्यवान् रक्षोपाय हैं। इसी प्रकार मुम्बई शहर में सिटी सिविल न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के समक्ष अपील करने सम्बन्धी उपबन्ध अथवा जिलों में जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील करने सम्बन्धी उपबन्ध कि मामले का यथासम्भव शीघ्र निपटारा करना होता है पर्याप्त रक्षोपाय हैं। यह बात सूरज मल मेहता वाले मामले में स्वीकार की गई थी। मामूली सिविल न्यायालय तथा इन अधिनियमों के अधीन कार्यपालक प्राधिकारियों के समक्ष प्रक्रिया के बीच मुख्य भेद यह है कि एक मामले में तो उसका विनिश्चय विधि के क्षेत्र में प्रशिक्षित न्यायिक अधिकारी द्वारा किया जाएगा और यह भी हो सकता है कि वहां एक से अधिक अपील की जाने की व्यवस्था हो। दूसरी ओर अन्य मामले में केवल एक ही अपील की व्यवस्था है। किन्तु व्यथित पक्षकार इस बात के लिए भी स्वतन्त्र है कि वह संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के उपबन्धों के अधीन उच्च न्यायालय का आश्रय ले। यह उस उपबन्ध की अपेक्षा कोई कम प्रभावी नहीं है जिसमें कि द्वितीय अपील की व्यवस्था की गई है। यदि सम्पूर्ण दृष्टि से देखा जाए तो जिस उद्देश्य के साथ यह विशेष प्रक्रिया विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित की गई थी उसे देखते हुए न्यायालय यह अभिनिर्धारित करने के लिए तैयार नहीं है कि इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच भेद इतना क्रूर है कि उसमें विभेद का दोष लागू होता है। अनुच्छेद 14 में किसी संकीर्ण दृष्टिकोण की अपेक्षा तो नहीं की गई है। इसलिए यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि न तो बाम्बे म्युनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट के अध्याय 5-ए के उपबन्धों और न बाम्बे गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट, 1955 के उपबन्धों को ही संविधान का अनुच्छेद 14 लागू होता है। (पैरा 17).

न्यायाधिपति भगवती—

(न्यायालय के निर्णय से सहमति व्यक्त करते हुए)

इस विचार के आधार पर यह अनावश्यक प्रतीत होता है कि इस बात पर विचार किया जाए कि क्या म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया सिविल वाद की मामूली प्रक्रिया की अपेक्षा सारवान् रूप से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है। यह एक और अपेक्षा है जिसे म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में उपबन्धित विशेष प्रक्रिया को विभेदात्मक कह कर रद्द करने से पूर्व पूरा किया जाना चाहिए। साधारणतया इस बात पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं थी कि क्या यह अपेक्षा पूरी की गई है या नहीं क्योंकि ऐसा करना अनावश्यक है। किन्तु चूंकि यह देखा गया है कि इस प्रश्न के बारे में कुछ भ्रम है जिसे स्पष्ट करना आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि इस प्रश्न के सम्बन्ध में अनिश्चितता की जो धुन्ध छाई हुई है उसे

दूर किया जाए इसलिए न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करना चाहेगा। आरम्भ में ही यह संकेत कर दिया गया है और इस बात पर सदैव ध्यान रखना होगा क्योंकि अन्यथा यह सम्भाव्य है कि अनुच्छेद 14 का समुचित स्वरूप विकृत हो जाएगा, कि इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच मामूली भेद इस बात के लिए काफी नहीं है कि समता खण्ड के प्रतिषेध का आश्रय लिया जा सके। यदि न्यायालय समानता की इस गारण्टी से मकड़ी का जाल बनाने में लग जाएं अथवा प्रक्रिया सम्बन्धी छोटे-छोटे भेदों के बारे में अत्यधिक विचार करते हुए उनकी छानबीन करना शुरू कर दे तो समता खण्ड विधि सम्बन्धी पाण्डित्य के लिए सुचारू विषय बन जाएगा और उसका वास्तविक प्रयोजन समाप्त हो जाएगा जो यह है कि जनसाधारण अर्थात् कसांई, नानबाई तथा मोमबत्ती बनाने वाले के साथ समान व्यवहार किया जाए। समता खण्ड का आश्रय वास्तविक तथा सारवान् भेदों को क्षति पहुंचाना है चाहे वे अधिष्ठायी हों या प्रक्रिया सम्बन्धी और कार्यपालिका के ऐसे कृत्यों को आघात पहुंचाना है जो मनमाने या सनकपूर्ण हों और यह बात समता खण्ड के उद्देश्य तथा आशय के प्रतिकूल होगी कि सूक्ष्म भेदों, कठोरता की रेखाओं तथा प्रतिकूल प्रभाव की सैद्धान्तिक सम्भाव्यताओं को विधायी असमता अथवा कार्यपालक विभेद का रूप दिया जाए। अनुच्छेद 14 के बारे में न्यायालय का दृष्टिकोण ऐसा होना चाहिए कि उसमें पर्यवेक्षा तथा समनुपात की धारणा हो जो दृढ़ अवबोध पर आधारित हो तथा अत्यन्त सूक्ष्म सुभेदों से सम्बन्धित न हो। प्रक्रिया सम्बन्धी क्षेत्र में विभेद के विरुद्ध संरक्षण का समस्त आकार वास्तविक तथा सारवान् रूप से अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला हो और मात्र अति सूक्ष्म ऐसे विभेद न हों जो कि इस त्रुटिपूर्ण मानविक अभिकरणों के अपूर्ण संसार में विद्यमान रहने वहां आवश्यक हैं जहां कि दो प्रक्रियाएं विहित की गई हों। जब जीवन की लचीली वास्तविकताओं की बाबत चर्चा की जाती है तो सैद्धान्तिक तथा अति सूक्ष्म दृष्टिकोण से दूर रहना चाहिए। (पैरा 38)

ऐसा कोई जादुई सूत्र नहीं है जिसके द्वारा यह कहा जा सके कि एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक कठोर तथा कष्टप्रद है। इसका यह परिणाम नहीं निकलता है कि केवल इस कारण कि किसी एक प्रक्रिया में सिविल न्यायालय के कोरम की व्यवस्था की गई है इसलिए दूसरी प्रक्रिया निश्चित रूप से पहली न्यायालय प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक कठोर एवं कष्टप्रद है। न्यायालय ऐसी निरपेक्ष प्रस्थापना को स्वीकार नहीं कर सकता है। वास्तव में कई बार जब कोई निर्धन व्यक्ति किसी सिविल न्यायालय में नियमित वाद में फंस जाता है तो वह उसी में खो जाता है क्योंकि उसकी मुकदमा सम्बन्धी पद्धति अति विस्तृत, खर्चीली तथा डांवाडोल करने वाली होती है जिसके परिणामस्वरूप साधारण व्यक्ति को प्रायः

विनाश का सामना करना पड़ता है और परिणामस्वरूप वह अपेक्षाकृत एक त्वरित तथा कम खर्चीला माध्यम है यद्यपि उसमें ऐसा प्रशासनिक कार्मिक रहता है जो कि न्यायालय की सूक्ष्म पद्धति में प्रशिक्षित नहीं होता है और उसमें कष्ट-दायी शर्तों पर लगाए गए काउन्सेल की लम्बी तथा जटिल बहस की सहायता भी प्राप्त नहीं होती है तो भी इस देश में बहुत लोगों द्वारा बेहतर समझा जाता है। सिविल न्यायालय की प्रक्रिया बहुत-सी तकनीकी जटिलताओं से भी ग्रस्त होती है। वह साक्ष्य के ऐसे नियमों पर अग्रसर होती है जो कभी-कभी अत्यन्त तकनीकी होते हैं और वह साक्ष्य सम्बन्धी सामग्री को केवल तभी प्राप्त करती है जब वह विहित प्रक्रियाओं के माध्यम से अभिलेख पर लायी जाए भले ही अन्य उपायों से स्थिति को बेहतर समझना सम्भव हो और वह केवल ऐसी सामग्री के आधार पर कार्यवाही करती है जो अभिलेख पर लाई गई हो और इस सम्बन्ध में कई बार ऐसी बातों को ध्यान से अपवर्जित कर दिया जाता है जो कि सामान्य ज्ञान तथा अनुभव द्वारा सच्चाई पर पहुंचने में उपयोगी हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त वह न्याय प्रशासन की प्रतिकूल प्रणाली के आधार पर कर्त्तव्यशील होती है जिसके परिणामस्वरूप जहां विरोधी मुकदमेबाज समान रूप से सन्तुलित न हों वहां विषमता आ सकती है। यह भी सम्भव है कि कुछ प्रकार के मामलों में लोगों को वहां बेहतर न्याय मिल सकता है जहां कि न्यायिक प्रारूपिकता को स्थान न दिया गया हो और प्रक्रिया को अनौपचारिक बनाया गया हो। उत्तरोत्तर अपीलों की पद्धति जो कि न्यायिक शृंखला में अपनाई गई है प्रायः ऐसी जीत में परिणत होती है जिसे प्राप्त करने में अत्यधिक हानि उठानी पड़ी हो और न्याय में विलम्ब रूपी परिणाम निकलने से उससे परेशानी अधिक होती है। इसलिए इस बात को स्वयंसिद्ध अपवाद अथवा सर्वमान्य साधारण नियम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि प्रशासनिक अधिकरण और सिविल न्यायालय उससे पश्चादुक्त सदैव पूर्वोक्त की अपेक्षा कृत्यों की दृष्टि से बेहतर होना है। हम ऐसे न्याय प्रशासन की पद्धति में विकसित हुए हैं जहां कि सिविल न्यायालय के ऐसे मुख्य प्राधिकारी रहे हैं जिन्हें विवादों का विनिश्चय करने का काम सौंपा जाता है और इसलिए जब कभी विधानमण्डल द्वारा ऐसी विशेष व्यवस्था की जाती है जिसके अनुसार विवादों के अभिनिश्चय की शक्ति न्यायालयों के स्थान पर विधानमण्डल द्वारा स्थापित किसी अन्य प्राधिकारी को सौंपी गई हो तो हमारा मस्तिष्क, जो कि न्यायालयों की ऐतिहासिक विद्यमानता से सीमित है और इसलिए उसने प्रचलित न्याय प्रशासन की पद्धति जिसमें कि न्यायालय होते हैं, के लिए रुचि ग्रहण कर ली है ऐसे प्राधिकारी की प्रस्थापना के विरुद्ध प्रतिकूल प्रक्रिया दर्शित करता है। न्यायालय को चाहिए कि वह न्याय

प्रशासन की विद्यमान् पद्धति के लिए अपनी विशेष रुचि का त्याग कर दे जो कि दीर्घ समय से प्रचलित रही है और विधानमण्डल द्वारा स्थापित विशेष मशीनरी की निरपेक्ष रूप से तथा उदासीन होकर जांच करे जब कि हमारे मन में उसके विरुद्ध कोई पूर्व रचित भावना या तत्प्रतिकूल विचार विद्यमान् न हो और इस बात का पता चलाया जाए कि क्या विशेष मशीनरी सिविल न्यायालय की पुरातन मशीनरी की अपेक्षा वस्तुत: तथा सारवान् रूप से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है। हम सिविल न्यायालयों द्वारा किए गए प्रशासन के उच्च गुणों की अवहेलना नहीं करते जो कि उसके अभिन्न अंग है अर्थात् उदासीनता तथा निष्पक्षता, दृष्टिकोण में निरपेक्षता, सूक्ष्म ग्राह्यता तथा नैसर्गिक न्याय के सम्मान तथा साक्ष्य का चयन करने में एवं विधि के निर्वचन तथा उसके लागू किए जाने में विशेषज्ञता। किन्तु हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि प्रशासनिक अधिकरण की मशीनरी आवश्यक रूप से तथा सदैव सिविल न्यायालय की मशीनरी की अपेक्षा अधिक कठोर तथा कष्टप्रद नहीं होती है। इन दोनों प्रक्रियाओं की तुलना निरपेक्ष रूप से तथा पक्षपातरहित हो कर करनी होगी और इस बात का अवधारण करने में कि क्या एक पद्धति दूसरी पद्धति की अपेक्षा वस्तुत: तथा सारवान् रूप से अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है किसी विशेष रुचि अथवा प्रतिकूल प्रभाव के बिना करनी होगी। (पैरा 39)

इस प्रकार वास्तव में तथा सारवान् रूप से जिस प्रक्रिया का सिविल न्यायालय में अनुसरण किया जाता है वही प्रक्रिया नगरपालिक आयुक्त अथवा जांच करने वाले अन्य अधिकारी के समक्ष कार्यवाही में उपलब्ध की गई है। इसके अलावा नगरपालिक आयुक्त अथवा अन्य अधिकारी के विनिश्चय के विरुद्ध अपील का भी अधिकार दिया गया है और अपील का यह अधिकार किसी ज्येष्ठ एवं अत्यधिक अनुभवप्राप्त न्यायिक अधिकारी को होता है, न कि मामूली कार्यपालिक अधिकारी को। अपील सिटी सिविल न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के समक्ष की अथवा बृहत्तर मुम्बई के अन्य ऐसे न्यायिक अधिकारी के समक्ष की जा सकती है जिसे अन्यून दस वर्ष का इस रूप में अनुभव प्राप्त हो और जिसे प्रधान न्यायाधीश तन्निमित्त पदाभिहित करे और यह अपील विधि एवं तथ्य दोनों के सम्बन्ध में होती है। यह सही है कि अपील आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन नहीं किया जा सकता है किन्तु यदि अपीली शक्ति से युक्त किया गया न्यायिक अधिकारी अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहता है या अपनी अधिकारिता के बाहर जा कर कार्यवाही करता है या विधि सम्बन्धी ऐसी गलती करता है जो कि अभिलेख को देखने मात्र से प्रत्यक्ष है या उसके द्वारा दिए गए विनिश्चय के परिणामस्वरूप न्याय का गम्भीर ह्रास होता है तो व्यथित पक्षकार इस बात के लिए सदैव स्वतन्त्र है कि उस मामले को

अनुच्छेद 226 या 227 के अधीन परीक्षा किए जाने के लिए उच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इसलिए अन्तिम विनिश्चय एक ऐसे न्यायिक अधिकारी का विनिश्चय होता है जिसे विधि की कला अथवा हुनर का प्रशिक्षण होता है न कि कोई कार्यपालक अधिकारी। यह समझना कठिन है कि भला महत्वपूर्ण सार्वजनिक उपयोग के लिए इस्तेमाल किए जाने के लिए सार्वजनिक परिसरों के शीघ्र तथा द्रुततर प्रत्युद्धरण के लिए आवश्यकता के संदर्भ में जहां कि प्रक्रिया की विस्तीर्णता से प्रत्युद्धरण का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा, म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया के बारे में— और यह समान रूप से गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट में उपवर्णित प्रक्रिया को भी लागू होता है—यह समझा जा सकता है कि वह सिविल न्यायालय की मामूली प्रक्रिया की अपेक्षा वस्तुतः तथा सारवान् रूप से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है। ये दोनों प्रक्रियाएं सारवान् रूप से तथा गुणों की दृष्टि से इतनी तीव्र नहीं हैं कि वे विभेद के दोष के अन्तर्गत आ सकें। (पैरा 40)

न्यायाधिपति खन्ना

(न्यायालय के निर्णय से सहमति व्यक्त करते हुए किन्तु नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में बहुमत के निर्णय के उलट दिए जाने से विमति व्यक्त करते हुए)—

निर्णीतानुसरण (स्टेयर डिसाइसेज) का सिद्धान्त — न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों को उलटा जाना—ऐसा केवल विशेष आकस्मिकताओं में ही किया जाना चाहिए।

आक्षेपकृत उपबन्धों में प्रकल्पित प्रक्रिया इतनी कष्टप्रद तथा कठोर नहीं है कि उससे विभेद का अनुमान लगाना न्यायोचित समझा जाए। यह तथ्य मात्र कि ऐसे दो फोरम हैं जिनकी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है, आक्षेपकृत उपबन्धों के अभिखण्डित किए जाने के लिए इस रूप में न्यायोचित नहीं है कि वे अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करते हैं, विशेष रूप से वहां जहां कि दोनों ही प्रक्रियाएं उचित हैं और नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल हैं। मैं अपने विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति भगवती से सहमत हूं कि अनुच्छेद 14 के प्रतिषेध को आकर्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों प्रक्रियाओं के बीच सारवान् तथा गुणों की दृष्टि से विशेष भेद हो जिससे कि एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया की अपेक्षा वस्तुतः सारवान् रूप से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली हो और हमें जीवन की अनेक वास्तविकताओं पर विचार करते समय सैद्धान्तिक तथा सूक्ष्म दृष्टिकोण से बचना चाहिए। (पैरा 42)

जहां तक इस न्यायालय के पूर्ववर्ती मत के उलट दिए जाने का प्रश्न है, ऐसा केवल तभी किया जाना चाहिए जब विनिर्दिष्ट आकस्मिकता विद्यमान हो।

यह बात एक व्यापक प्रस्थापना के रूप में अधिकथित की जा सकती है कि कोई ऐसा मत, जो लम्बी कालावधि के लिए स्वीकार किया जाता रहा है, उसमें तब तक विघ्न नहीं डालना चाहिए जब तक कि न्यायालय निश्चायक रूप से यह न कह सके कि वह गलत या अयुक्तियुक्त था या वह ऐसा मत था कि उसके परिणामस्वरूप जनता को कठिनाई या असुविधा पहुंचती है। (पैरा 44)

नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में बहुमत द्वारा व्यक्त किए गए मत को उलटने के लिए पर्याप्त आधार दर्शित नहीं किया गया है। हो सकता है कि उस मामले में जो अल्प मत व्यक्त किया गया था, वह अधिक अच्छा प्रतीत हो, किन्तु यह बात अपने आप में यह दर्शित नहीं करती है कि नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में जो निर्णय लिया गया था, वह प्रत्यक्ष रूप से गलत था और इसलिए उसे उलटना अपेक्षित है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त विनिश्चय से जनसाधारण को असुविधा तथा कठिनाई हुई है। विधानमण्डल ने नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में दिए गए विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए अनेक अधिनियमितियों में आवश्यक संशोधन कर दिए हैं जिससे कि वे अधिनियमितियां जिन विषयों से सम्बन्धित हैं, उनमें सिविल न्यायालयों की अधिकारिता वर्जित कर दी गई है। नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय के परिणामस्वरूप जिस कठिनाई को अनुभव किया गया था, उसे दूर करने के लिए किसी सांविधानिक संशोधन की आवश्यकता नहीं थी। (पैरा 46)

इस मामले के प्रयोजन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में बहुमत के विनिश्चय को उलट दिया जाए। (पैरा 47)

व्युत्क्रांत निर्णय

		पैरा
[1967]	(1967) 3 एस० सी० आर० 399 : **नार्दर्न इण्डिया केटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य** (Northern India Caterers Limited *Vs.* State of Punjab).	2

निर्दिष्ट निर्णय

[1973]	(1973) 1 एस० सी० आर० 515 : **हरि सिंह बनाम मिलिटरी एस्टेट आफिसर** (Hari Singh *Vs.* Military Estate Officer);	5
[1971]	ए० आई० आर० 1971 आन्ध्र प्रदेश 332 : **एम० बेगम** बनाम राज्य (M. Begam *Vs.* The State) ;	6

[1970] ए० आई० आर० 1970 मद्रास 387 :
अब्दुल रशीद बनाम सहायक इन्जीनियर (हाइवेज) [Abdul Rashid *Vs.* Assistant Engineer (Highways)] ; 6

[1970] (1970) 1 आन्ध्र लॉ टाइम्स 88 :
मेहरुनिस्सा बेगम बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य (Meharunissa Begam *Vs.* The State of Andhra Pradesh); 6

[1968] ए० आई० आर० 1968 पटना 476 :
भारतीय होटल बनाम भारत संघ (Bhartiya Hotel *Vs.* Union of India); 6

[1965] (1965) 2 एस० सी० आर० 289 :
बिल्डर्स कारपोरेशन बनाम यूनियन (Builders Corporation *Vs.* Union); 3

[1964] (1964) 6 एस० सी० आर० 903 :
राजस्थान राज्य बनाम मुकनचन्द और अन्य (State of Rajasthan *Vs.* Mukanchand and Others); 22

[1963] (1963) 2 एस० सी० आर० 353 :
लक्ष्मण दास बनाम पंजाब राज्य और अन्य (Lachhman Das *Vs.* The State of Punjab); 22

[1963] (1963) सप्लीमेंट 2 एस० सी० आर० 760 :
बनारसी दास बनाम केन कमिश्नर, उत्तर प्रदेश (Banarasi Das *Vs.* Cane Commissioner, Uttar Pradesh); 25

[1962] (1962) 2 एस० सी० आर० 324 :
नवरतन मल और अन्य बनाम राजस्थान राज्य (Navrattan Mal and Others *Vs.* The State of Rajasthan); 22

[1962] (1962) 2 एस० सी० आर० 125 :
ज्योति प्रसाद बनाम प्रशासक दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र (Jyoti Prashad *Vs.* Administrator for the Union Territory of Delhi); 13

[1961] (1961) 2 एस० सी० आर० 962 :
श्री मुन्ना लाल और एक अन्य बनाम कलक्टर ऑफ झालावाड़ और अन्य (Shri Munnalal and another *Vs*. Collector of Jhalawar and Others); 3

[1960] (1960) 2 एस० सी० आर० 646 :
कंगसरी हलदर और एक अन्य बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य (Kangsari Haldar and another *Vs*. The State of West Bengal); 12

[1959] (1959) एस० सी० आर० 279 :
रामकृष्ण डालमिया बनाम न्यायाधिपति तन्दोलकर (Ramkrishan Dalmia *Vs*. Justice Tandolkar); 13

[1957] (1957) एस० सी० आर० 970:
कलक्टर ऑफ मालाबार बनाम इरीमल इब्राहीम हाजी (The Collector of Malabar *Vs*. Erimal Ebrahim Hajee); 3

[1957] (1957) एस० सी० आर० 678 :
असगर अली नाजरअली सिंगापुरवाला बनाम मुम्बई राज्य (Asgarali Nazarali Singeporawalla *Vs*. The State of Bombay); 3

[1955] (1955) 2 एस० सी० आर० 1247 :
एम० सी० टी० मुथीश और अन्य बनाम आयकर आयुक्त, मद्रास और एक अन्य (M. Ct. Muthish and others *Vs*. The Commissioner of Income-tax, Madras and another) ; 32

[1955] (1955) 2 एस० सी० आर० 603 :
बंगाल इम्यूनिटी कम्पनी लिमिटेड बनाम बिहार राज्य और अन्य (Bengal Immunity Co. Ltd. *Vs*. The State of Bihar and others); 44

[1955] (1955) 2 एस० सी० आर० 1196 :
ए० थंगल कुंजु मुसालियर बनाम एन० वेंकिट्टाचलम् पोट्टी (A. Thangal Kunju Musaliar *Vs*. N. Venkitachalam Potti); 37

[1955] (1955) 1 एस० सी० आर० 787 :
श्री मीनाक्षी मिल्स लिमिटेड, मदुरई बनाम ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री (Shree Meenakshi Mills Ltd, Madurai *Vs*. A. V. Visvanath Sastri); 31

[1955] (1955) 1 एस० सी० आर० 448 :
सूरज मल मेहता बनाम ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री (Suraj Mull Mehta *Vs*. A. V. Vishwanatha Sastri); 25

[1954] (1954) एस० सी० आर० 572 :
बाबूराव शान्ताराम मोर बनाम बॉम्बे हाउसिंग बोर्ड और एक अन्य (Baburao Shantaram More *Vs*. The Bombay Housing Board and another); 22

[1954] (1954) एस० सी० आर० 30 :
केदारनाथ बजोडिया बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य (Kedar Nath Bajoria *Vs*. The State of West Bengal); 36

[1952] (1952) एस० सी० आर० 710 :
लक्ष्मण दास केवलराम आहूजा और एक अन्य बनाम मुम्बई राज्य (Lachmandas Kewalram Ahuja and another *Vs*. The State of Bombay) 9

[1952] (1952) एस० सी० आर० 435 :
कठी रेनिंग रावत बनाम सौराष्ट्र राज्य (Kathi Running Rawat *Vs*. The State of Saurashtra); 28

[1952] (1952) एस० सी० आर० 284 :
पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार (The State of West Bengal *Vs*. Anwar Ali Sarkar); 28

[1952] (1952) 56 सी० डब्ल्यू० एन० 701 :
जे० के० गुप्ता बनाम राज्य (J. K. Gupta *Vs*. The State); 36

[1948] (1948) ए० सी० 291, 317 :
पाल्सर बनाम ग्रिनलिंग (Palser *Vs*. Grinling); 10
63 लायर्स एडिशन 1958=250 यू० एस० 400 :
एरीजानो कापर कम्पनी बनाम हैम्मर (Arizone Copper Co. *Vs*. Hammer); 26

274 यू० एस० 200, 208 :
बक बनाम बैल (Buck *Vs*. Bell). 37

सिविल अपीली अधिकारिता : 1968 की सिविल अपील संख्या 680.

1966 के प्रकीर्ण पिटीशन संख्या 478 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 21/23 अगस्त, 1967 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

1968 की सिविल अपील संख्या 2076-2080, 1969 की संख्या 2093 2103.

1967 के विशेष सिविल आवेदन संख्या 676, 837, 838, 840 और 841 तथा 1969 की संख्या 827 से 836 और 839 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 14/17 मार्च, 1969 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपीलें।

1969 की सिविल अपील संख्या 2527.

1966 के विशेष सिविल आवेदन संख्या 1116 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 21/24 अगस्त, 1967 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

1970 की सिविल अपील संख्या 249.

1966 के विशेष सिविल आवेदन संख्या 1138 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 25 अगस्त, 1967 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

1970 के रिट पिटीशन संख्या 337-348.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किए गए रिट पिटीशन।

अपीलार्थी की ओर से (1968 की सिविल अपील संख्या 680 में)	सर्वश्री ए० के० सेन, एस० सी० मजूमदार और एस० के० बासू
अपीलार्थी की ओर से (1969 की सिविल अपील संख्या 2076-2080 और 2093-2103 में)	सर्वश्री जी० एल० सांघी, ए० डी० मर्चेन्ट और बी० आर० अग्रवाल
अपीलार्थी की ओर से (1969 की सिविल अपील संख्या 2527 में)	सर्वश्री एस० जे० सोराबजी, बी० आर० अग्रवाल
पिटीशनर की ओर से (1970 के रिट पिटीशन संख्या 333-448 में)	सर्वश्री एस० जे० सोराबजी, ए० डी० मर्चेन्ट और बी० आर० अग्रवाल
अपीलार्थी की ओर से (1970 की सिविल अपील संख्या 249 में)	सर्वश्री बी० आर० अग्रवाल, के० एल० हाथी और पी० सी० कपूर
प्रत्यर्थी संख्या 1 और 2 की ओर से (1968 की सिविल अपील संख्या 680 में)	सर्वश्री आर० जे० जोशी, एम० एन० कोठारी, श्रीमती के० एस० कदम, सर्वश्री पी० सी० भर्तरी, जे० बी० दादाचांजी, ओ० सी० माथुर और रविन्द्र नारायण

प्रत्यर्थी संख्या 2 और 3 की ओर से (1969 की सिविल अपील संख्या 2527 में)	श्री एम० सी० भण्डारे, श्रीमती के० एस० कदम, सर्वश्री पी० सी० भर्तरी जे० बी० दादाचंजी, ओ० सी० माथुर और रविन्द्र नारायण
प्रत्यर्थी संख्या 1 और 2 की ओर से (1970 की सिविल अपील संख्या 246 में)	सर्वश्री एम० सी० सीतलवाड और वाई० एस० चितले, श्रीमती के० एस० कदम, सर्वश्री पी० सी० भर्तरी, जे० बी० दादाचंजी, ओ० सी० माथुर और रविन्द्र नारायण
प्रत्यर्थी संख्या 7 की ओर से (1969 की सिविल अपील संख्या 2527 में) और प्रत्यर्थी संख्या 3 की ओर से (1970 की सिविल अपील संख्या 249 में)	सर्वश्री एम० सी० भण्डारे और एम० एन० श्रॉफ
प्रत्यर्थी संख्या 3 की ओर से (1968 की सिविल अपील संख्या 680 में) और प्रत्यर्थी संख्या 2 की ओर से (1968 की सिविल अपील संख्या 2076-2030 और 2093-2103 में) और प्रत्यर्थी संख्या 2. और 3 की ओर से (सभी रिट पिटीशनों में)	सर्वश्री बी० एस० देसाई और एम० एन० श्रॉफ

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ए० अलगिरिस्वामी ने दिया।

न्यायाधिपति अलगिरिस्वामी—

इन अपीलों तथा रिट पिटीशनों का सम्बन्ध बाम्बे म्युनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट के अध्याय 5-ए तथा बाम्बे गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज़ (एविक्शन) ऐक्ट, 1955 के अधीन की गई कुछ कार्यवाहियों की वैधता से है। अध्याय 5-ए को बाम्बे म्युनिसिपल ऐक्ट, 1883 में महाराष्ट्र के 1961 के अधिनियम संख्या 14 द्वारा पुरःस्थापित किया गया था। उक्त अध्याय में धारा 105-ए तथा 105-बी आती हैं। उन धाराओं के उपबन्धों के अनुसार आयुक्त ने निगम के स्वामित्वाधीन अथवा उसमें निहित अथवा उसके द्वारा पट्टे पर लिए गए परिसरों के सम्बन्ध में तथा महाप्रबन्धक (जिसे आयुक्त के रूप में परिभाषित किया गया है) बाम्बे इलैक्ट्रिसिटी सप्लाई एण्ड ट्रान्सपोर्ट अण्डरटेकिंग में निगम के उन परिसरों के सम्बन्ध में, जो कि उक्त उपक्रम के प्रयोजनों के लिए उसमें निहित हैं, किन्हीं निगम परिसरों के अप्राधिकृत अधिभोग की बाबत बेदखली की कुछ शक्तियों की मंजूरी दी गई थी। अप्राधिकृत अधिभोग की परिभाषा ऐसे अधिभोग के रूप में

की गई है जो ऐसे अधिभोग के लिए प्राधिकार के बिना निगम के परिसरों के किसी व्यक्ति द्वारा ग्रहण किया गया हो और इसके अन्तर्गत किसी व्यक्ति द्वारा उन परिसरों का अधिभोग उस समय के पश्चात् बना रहना भी आता है जब वह प्राधिकार, जिसके अधीन उसे परिसरों का अधिभोग बनाए रखने की इजाज़त दी गई थी, समाप्त हो गया है अथवा सम्यक् रूप से अवसित हो गया है। धारा 105-बी के अधीन आयुक्त प्राधिकृत अधिभोग रखने वाले व्यक्ति पर तामील की गई सूचना द्वारा उससे यह मांग कर सकता है कि यदि उसने ऐसे परिसरों की बाबत उससे विधिपूर्वक शोध्य भाटक या करों का संदाय दो मास से अधिक कालावधि के लिए नहीं किया है अथवा उसने अपने अधिभोग की शर्तों के निबन्धनों के प्रतिकूल ऐसे परिसरों के समस्त अथवा किसी भाग को शिकमी पट्टे पर दे दिया है अथवा उसने विनाश के ऐसे कार्य किए हैं अथवा कर रहा है जिनके द्वारा उसके मूल्य में सारवान् रूप से कमी होना सम्भाव्य है अथवा उन परिसरों की उपयोगिता सारवान् रूप से कम होना सम्भाव्य है अथवा अन्यथा उसमें उन निबन्धनों में से चाहे वे अभिव्यक्त हों या विवक्षित उन्हीं का उल्लंघन किया है जिनके अध्यधीन वह ऐसे परिसरों का अधिभोग रखने के लिए प्राधिकृत है या यदि कोई व्यक्ति किसी निगम के परिसर का अप्राधिकृत अधिभोग रखता है या किसी व्यक्ति के अधिभोग के अधीन निगम के किन्हीं परिसरों की अपेक्षा निगम द्वारा लोक हित में की जाती है। ऐसा आदेश करने से पूर्व आयुक्त को चाहिए कि वह सम्बद्ध व्यक्ति से इस बात का हेतुक दर्शित करने के लिए मांग करने की सूचना जारी करे कि बेदखली का आदेश क्यों जारी न किया जाए और वह उन आधारों पर उल्लेख करे जिन पर बेदखली का आदेश देने की प्रस्थापना की गई हो। सम्बद्ध व्यक्ति लिखित कथन फाइल कर सकता है और दस्तावेज पेश कर सकता है वह इस बात के लिए हकदार है कि वह आयुक्त के समक्ष अधिवक्ता, अटार्नी अथवा प्लीडर की मार्फत हाजिर हो। ऐसे व्यक्ति, जो बेदखली के आदेश का पालन करने में असफल रहते हैं या कोई ऐसा व्यक्ति जो बेदखली के काम में रुकावट डालता है बलपूर्वक बेदखल किया जा सकता है। धारा 105-सी के अधीन इस बात की शक्ति विद्यमान् है कि सम्पत्ति के करों की बकाया के रूप में भाटक अथवा नुकसानी वसूल की जा सके। कोई ऐसा व्यक्ति जिसे भाटक की बकाया रहने के कारण अथवा उन निबन्धनों का उल्लंघन करते हुए कार्यवाही करने के कारण, जिनके अधीन उसे परिसर का अधिभोग रखने के लिए प्राधिकृत किया गया है, यदि वह आयुक्त का समाधान कर देता है तो उसे अधिभोग में बने रहने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है। कोई जांच कराने के प्रयोजन के लिए आयुक्त को वही शक्तियां प्राप्त हैं जो सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन सिविल न्यायालय में उस समय निहित होती हैं जब वह (क)

किसी व्यक्ति को समन करने तथा उसकी हाज़िरी प्रवृत्त करने की बाबत और शपथ पर उसकी परीक्षा करने की बाबत उसमें निहित हैं; (ख) दस्तावेजों के प्रकटीकरण तथा पेश किए जाने की अपेक्षा करने की बाबत उसमें निहित है तथा (ग) कोई अन्य विषय जो विनियम द्वारा विहित किया जाए। आयुक्त के प्रत्येक आदेश के विरुद्ध अपील सिटी सिविल न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के समक्ष अथवा ऐसे अन्य न्यायिक अधिकारी के समक्ष की जा सकती है जिसे प्रधान न्यायाधीश पदाभिहित करे। अपील का निपटारा जितनी जल्दी सम्भव हो उतनी जल्दी करना होगा। अपील के परिणामों के अधीन रहते हुए आयुक्त अथवा अपील अधिकारी का आदेश अन्तिम है। विनियम बनाने की शक्ति के अन्तर्गत जांच कराने की बाबत विनियम बनाने की शक्ति भी शामिल है और इसमें वह प्रक्रिया भी आ जाती है जिसका अनुसरण ऐसी अपीलों में करना होता है।

2. बाम्बे गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज़ (एविक्शन) ऐक्ट के अधीन उपबन्ध लगभग इसके समान हैं, सिवाय इस बात के कि उनका सम्बन्ध सरकारी परिसरों से होता है और बेदखल करने का आदेश देने की शक्ति ऐसे सक्षम प्राधिकारी को दी गई है जो उप-कलक्टर अथवा राज्य सरकार द्वारा नियुक्त अधिशासी इन्जीनियर से निचली श्रेणी का न हो। जिस एकमात्र अन्य विषय में इस अधिनियम के उपबन्ध बाम्बे म्युनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट के उपबन्धों से, जिसका अब ज़िक्र किया गया है, भिन्न हैं, यह है कि अधिनियम की धारा 8-ए में वह उपबन्ध किया गया है कि किसी भी सिविल न्यायालय को इस बात की अधिकारिता नहीं होगी कि वह धारा 4 में विनिर्दिष्ट आधारों में से किसी भी आधार पर सरकारी परिसर में से किसी व्यक्ति की बेदखली की बाबत कोई वाद या कार्यवाही ग्रहण कर सके अथवा ऐसे परिसर के उपयोग या अधिभोग के लिए संदेय भाटक या नुकसानी की बकाया के प्रत्युद्धरण के लिए कोई वाद या कार्यवाही ग्रहण कर सके। यह संशोधन **नार्दर्न इण्डिया केटरर्स बनाम पंजाब**[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय के परिणामस्वरूप किया गया था। किन्तु इस अधिनियम के अधीन उत्पन्न होने वाले मामले, जो अब इस न्यायालय के समक्ष हैं, ऐसी कार्यवाहियों की बाबत थे जो धारा 8-ए के महाराष्ट्र अधिनियम संख्या 12/1969 द्वारा इस अधिनियम में पुरःस्थापित किए जाने से पूर्व कार्यवाहियों की बाबत की गई थीं और इसलिए इस धारा का इन मामलों के प्रयोजनों के लिए कोई सम्बन्ध नहीं है।

3. यह दलील नहीं दी गई थी और न दी ही जा सकती थी कि अधिनियम, जहां तक कि उनमें राज्य तथा नगरपालिका निगम को लागू होने वाली विशेष प्रक्रिया के लिए उपबन्ध किया गया था, अविधिमान्य थे। **बाबू राव शान्ता राम मोर बनाम बॉम्बे हाउसिंग बोर्ड**[2] में बॉम्बे रेण्ट्स होटल एण्ड लाजिंग हाउस

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 309.

[2] (1954) एस० सी० आर० 572.

रेट्स कण्ट्रोल ऐक्ट, 1947 के उपबन्धों से सरकार या स्थानीय प्राधिकारी के परिसर की छूट को स्वीकार करते हुए, **कलक्टर ऑफ मालाबार बनाम इरीमल इब्राहीम हाजी**[1] में आयकर की विशेष पद्धतियों की वसूली के उपबन्ध को कायम रखते हुए, **असगर अली नाजर अली सिंगापुर वाला बनाम मुम्बई राज्य**[2] में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161, 165 या 165-क के अधीन अथवा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5 की उपधारा (2) के अधीन सभी अपराधों के अनन्य रूप से विशेष न्यायाधीशों द्वारा विचारण के लिए उपबन्ध करने वाले क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट ऐक्ट, 1952 की विधिमान्यतः को कायम रखते हुए, **श्री मुन्ना लाल और एक अन्य बनाम कलक्टर ऑफ झालावाड़ और अन्य**[3] में स्टेट बैंक को शोध्य धन की वसूली के लिए राजस्थान पब्लिक डिमाण्ड्स रिकवरी ऐक्ट, 1952 के उपबन्धों को कायम रखते हुए, **नवरतन लाल बनाम राजस्थान राज्य**[4] में सरकार के लिए विशेष परिसीमा कालावधि को कायम रखते हुए **लछमण दास, फर्म तिलक राम रामबख्श की ओर से बनाम पंजाब राज्य**[5] में एक अधिनियम के उन उपबन्धों को कायम रखते हुए जिनके द्वारा विवादों के अवधारण के लिए पृथक् प्राधिकारियों की स्थापना की गई थी और स्टेट बैंक के शोध्यों की वसूली के लिए उनके द्वारा अनुसरण की जाने वाली विशेष प्रक्रिया विहित की गई थी, तथा **बिल्डर्स कारपोरेशन बनाम यूनियन**[6] में जिसमें कि क्राउन डेट्स की पूर्विकता के सिद्धान्त को कायम रखा गया था सभी ऐसे उदाहरण हैं जहां राज्य को लागू होने वाले विशेष उपबन्धों को कायम रखा गया था। अब यह दलील नहीं दी जा सकती है कि सरकारी तथा सार्वजनिक निकायों को विधि के विशेष उपबन्धों को लागू किया जाना युक्तियुक्त वर्गीकरण पर आधारित नहीं है अथवा वह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करता है।

4. दलील यद्यपि सीमित थी और यह है कि चूंकि निगम तथा राज्य सरकार के लिए उपलभ्य प्रक्रियाएं दो प्रकार की हैं—एक साधारण विधि के अधीन वाद के रूप में और दूसरी दोनों अधिनियमों में से किसी भी एक अधिनियम के अधीन जो कि मामूली विधि के अधीन दी गई प्रक्रिया से अधीक कठोर तथा अधिक कष्टप्रद है इसलिए पश्चात्कथित दशा में, यदि इस बारे में कोई मार्गदर्शक सिद्धान्त न हो कि कौनसी प्रक्रिया लागू की जाए तो संविधान का अनुच्छेद 14 लागू होगा। इसके लिए **नार्दर्न इंडिया कैटरर्स वाले मामले**[7]

1 (1957) एस० सी० आर० 970.
2 (1957) एस० सी० आर० 678.
3 (1961) 2 एस० सी० आर० 962.
4 (1952) 2 एस० सी० आर० 324.
5 (1963) 2 एल० सी० आर० 353.
6 (1963) 2 एल० सी० आर० 289.
7 (1967) 3 एस० सी० आर० 309.

का पूर्ण रूप से सहारा लिया गया था। उस मामले में प्रश्न पंजाब पब्लिक प्रेमिसेज एण्ड लैण्ड (एविक्शन एण्ड रैण्ट रिक्वरी) ऐक्ट, 1959 के अधीन उत्पन्न हुआ था। मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव तथा न्यायाधिपति शैलत और न्यायाधिपति वैद्यलिंगम द्वारा गठित बहुमत से यह स्वीकार किया गया था कि दो प्रकार के अधिभोगियों के बीच बोधगम्य भेद विद्यमान है अर्थात् सार्वजनिक सम्पत्ति तथा परिसर के अधिभोगियों तथा प्राइवेट सम्पत्ति के अधिभोगियों के बीच और यह लोक हित में है कि द्रुततर प्रक्रिया के माध्यम से अप्राधिकृत अधिभोगियों की शीघ्रातिशीघ्र बेदखली की जाए और उनसे शीघ्रातिशीघ्र भाटक वसूल किया जाए। किन्तु उन्होंने **पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार**[1], **सूरज मल मेहता बनाम ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री**[2], **श्री मीनाक्षी मिल्स लिमिटेड मदुरई बनाम ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री**[3] और **बनारसी दास बनाम केन कमिश्नर, उत्तर प्रदेश**[4] में इस न्यायालय के विनिश्चयों का हवाला दिया और यह निष्कर्ष निकाला कि इन विनिश्चयों से जो सिद्धान्त उत्पन्न होता है वह यह है कि यदि दो ऐसी प्रक्रियाएं उपलभ्य हों जिनमें से अन्य पक्षकार की उपेक्षा में सम्बद्ध पक्षकार के लिए अधिक कठोर अथवा उसके प्रतिकूल हो जिसे प्राधिकारी द्वारा मनमाने रूप से लागू किया जा सके तो इससे विभेद पैदा हो जाएगा। उनका यह विचार था कि चूंकि धारा 5 वाद लाने के अलावा एक अतिरिक्त उपचार प्रदत्त करती है और यह बात कलक्टर के अनियन्त्रित विवेकाधिकार पर छोड़ दी गई है कि वह धारा 5 के अधीन अधिक कठोर प्रक्रिया के लागू किए जाने के लिए सार्वजनिक सम्पत्तियां तथा परिसरों का अधिभोग रखने वालों में से केवल कुछ को चुनते हुए दोनों प्रक्रियाओं में से किसी प्रक्रिया का सहारा ले। इसलिए उस धारा के विरुद्ध विभेद का यह आरोप लगाया जा सकता है कि वह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है और इस बात को ध्यान में रखते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया कि उक्त धारा विधिशून्य है। बहुमत द्वारा, जिसमें कि न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह तथा बछावत थे यह अभिनिर्धारित किया गया कि आक्षेपकृत अधिनियम द्वारा सम्पत्तियों के अधिभोगियों के बीच परस्पर कोई अनुचित विभेद नहीं किया गया है और यह कि उससे सार्वजनिक कल्याण को प्रगति मिलती है और वह एक लाभदायक अभ्युपाय है और यह कि वह अनुचित अथवा कष्टप्रद नहीं है और यह कि

---

[1] (1952) एस० सी० आर० 284.

[2] (1965) 1 एस० सी० आर० 448.

[3] (1955) 1 एस० सी० आर० 787.

[4] (1963) सप्लीमेण्ट 2 एस० सी० आर० 260 : ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1417.

अप्राधिकृत अधिभोगी को विधि का समान संरक्षण दिए जाने से केवल इस कारण इन्कार नहीं किया गया था कि सरकार को वाद ला कर अथवा अधिनियम के अधीन उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने का विकल्प प्राप्त था। आगे यह अभिनिर्धारित किया गया कि किसी अप्राधिकृत अधिभोगी को यह समादेश करने का सांविधानिक अधिकार प्राप्त नहीं है कि सरकार को कार्यवाही करने का विकल्प नहीं होना चाहिए और यह कि वाद फाइल करने के लिए सरकार के विकल्प पर आधारित दलील इस कारण सारहीन है कि व्यवहारिक दृष्टि से सरकार के लिए यह सम्भाव्य नहीं है कि वह किसी मामले में कोई वाद संस्थित करे जब कि वह अधिनियम के अधीन अनुतोष की मांग कर सकता है।

5. **नार्दर्न इंडिया कैटरर्स** वाले[1] मामले में दिए गए विनिश्चय के परिणामस्वरूप पब्लिक प्रेमिसेज़ (एविक्शन आफ अनआथोराइज्ड आकूपेशन) ऐक्ट, 1958 को पब्लिक प्रेमिसेज़ (एविक्शन आफ अनआथोराइज्ड आकूपेण्ट्स) ऐक्ट, 1971 द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया जिसे कि 1958 वाले अधिनियम की तारीख से भूतलक्षी प्रवर्तन का प्रभाव दिया गया और न्यायालय की अधिकारिता का सार्वजनिक परिसरों का अप्राधिकृत अधिभोग करने वाले किसी व्यक्ति की बेदखली का बाबत वाद या कार्यवाही ग्रहण करने के सम्बन्ध में बहिष्कार कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसे अधिनियम में भी संशोधन किया गया जो यहां विचाराधीन है अर्थात् बाम्बे गवर्नमेंट प्रेमिसेज़ (एविक्शन) ऐक्ट जिसमें कि धारा 8-ए पुरःस्थापित की गई जिसका पहले हवाला दिया जा चुका है और जिससे सिविल न्यायालय का सहारा लेने का वर्जन किया गया है। **हरि सिंह बनाम मिलिटरी एस्टेट आफिसर**[2] में इस न्यायालय ने नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में दिए गए विनिश्चय को कायम रखा और 1971 वाले अधिनियम की विधिमान्यता को इस आधार पर कायम रखा कि 1971 वाले अधिनियम के अधीन सार्वजनिक परिसरों का अप्राधिकृत रूप से अधिभोग रखने वाले व्यक्तियों की बेदखली के लिए केवल एक ही प्रक्रिया है और उसके अधीन विभेद रूपी कोई दोष विद्यमान नहीं है।

6. दो प्रक्रियाओं के उपलभ्य होने पर जिन में से एक अधिक कष्टप्रद तथा कठोर और इसलिए विभेदात्मक हो, पर आधारित दलील के परिणामस्वरूप कुछ उच्च न्यायालयों ने **नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स**[1] वाले मामले में दिए गए

---

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 309.

[2] (1973) 1 एस० सी० आर० 515.

विनिश्चय के प्रभाव से बचने के लिए कई दलीलों का सहारा लिया है। यह मद्रास उच्च न्यायालय के अब्दुल रशीद बनाम सहायक इन्जीनियर (हाईवेज[1]), आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के एम० बेगम बनाम राज्य[2] तथा मेहरूनिस्सा बेगम बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य[3] में और पटना उच्च न्यायालय के भारतीय होटल बनाम भारत संघ[4] वाले मामले में हुआ है। पटना उच्च न्यायालय का विनिश्चय उन मामलों में से एक है जिन पर हरि सिंह वाले मामले के साथ विचार किया गया है यह दिलचस्प बात है कि संविधान के अनुच्छेद 14 पर आधारित इस आक्षेप के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रूप से अधिक कष्टप्रद तथा कठोर प्रक्रिया को साधारण नियम के रूप में अपना लिया गया है और मामूली सिविल न्यायालय का सहारा लेने का प्रश्न सर्वथा त्याग दिया गया। इस बात की कल्पना करना कठिन है कि मामूली सिविल न्यायालयों का सहारा लेने के वर्जित का सम्भाव्यता मात्र से उस प्रक्रिया को अविधिमान्य बना दिया जाए जो कि अन्यथा विधिमान्य है। यह दलील दी जा सकती है कि जब तक कोई प्रक्रिया अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 14 का अपने आप में उल्लंघन न करती हो और इस प्रकार वह सांविधानिक रूप से विधिमान्य हो तो इस तथ्य से कि वह प्रक्रिया मामूली सिविल न्यायालयों में विद्यमान प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक कष्टप्रद तथा कठोर है, उस प्रक्रिया को केवल इस कारण विधिशून्य नहीं बना दिया जाना चाहिए कि कार्यवाही करने के लिए सक्षम प्राधिकारी कुछ मामलों में उस प्रक्रिया का सहारा ले सकता है और अन्य मामलों में वह मामूली सिविल न्यायालय की प्रक्रियाओं का सहारा ले सकता है यह कि कोई सांविधानिक रूप से विधिमान्य विधि का उपबन्ध इस कारण विधिशून्य अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि यह सम्भव है कि उसका कुछ मामलों में सहारा लिया जा सकता है और कुछ अन्य मामलों में मामूली सिविल न्यायालय की प्रक्रिया का सहारा लिया जा सकता है, चाहे जो भी हो हमारे मन में बेचैनी पैदा करता है और इसके परिणामस्वरूप उस युक्ति का समाधान करने के लिए प्रयत्न किए गए हैं जो कि नार्दर्न इंडिया कैटरर्स[5] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय का आधार है।

7. इसलिए अब हम यह देखेंगे कि क्या इस न्यायालय के विनिश्चय का वह आवश्यक परिणाम निकलता है जो कि नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स वाले मामले में बहुमत का निष्कर्ष था। ऐसा करने में हम इस न्यायालय के विनिश्चयों का

---

[1] ए० आई० आर० 1970 मद्रास 387.
[2] ए० आई० आर० 1971 आन्ध्र प्रदेश 382.
[3] (1970) 1 आन्ध्र ला टाइम्स 88.
[4] ए० आई० आर० 1968 पटना 476.
[5] (1967) 3 एस० सी० आर० 309.

कालक्रम के अनुसार परिशीलन करेंगे। उन विनिश्चयों में से पहला विनिश्चय **अनवर अली सरकार**[1] वाला मामला है। उस मामले में वेस्ट बंगाल स्पेशल कोर्ट्स ऐक्ट, 1950 की धारा 5(1) के अधीन, जो कि निम्नलिखित है—

> *"5(1). विशेष न्यायालय ऐसे अपराधों या अपराध वर्गों या मामलों या मामलों के वर्गों का विचारण करके जैसे कि राज्य सरकार सामान्य या विशेष आदेश द्वारा लिखित रूप में निदेश करे।"

अनेक व्यक्तियों का अधिनियम की धारा 3 के अधीन गठित विशेष न्यायालयों द्वारा विचारण किया गया था। इस अधिनियम का शीर्षक था "कतिपय अपराधों के द्रुततर विचारणों के लिए उपबन्ध करने के लिए अधिनियम" तथा उद्देशिका में यह घोषणा की गई थी कि "कतिपय अपराधों के द्रुततर विचारणों के लिए उपबन्ध करने के लिए यह समीचीन है।" बहुमत का निष्कर्ष यह था कि अपराधों के द्रुततर विचारण के लिए आवश्यकता द्वारा वर्गीकरण में युक्तियुक्त आधार की व्यवस्था नहीं की गई थी और विशेष न्यायालयों द्वारा विचारण के लिए अधिनियम द्वारा अधिकथित प्रक्रिया उस प्रक्रिया से सारवान् रूप से भिन्न थी जो दण्ड प्रक्रिया संहिता द्वारा सामान्य रूप से अपराधों में विचारण के लिए अधिकथित की गई है और चूंकि यह बात राज्य सरकार के अनियन्त्रित विवेकाधिकार पर छोड़ दी गई कि वह किसी ऐसे मामले को, जिसके बारे में वह यह चाहे कि उसका विचारण विशेष न्यायालय द्वारा किया जाए, निर्दिष्ट करे इसलिए यह विधिशून्य थी। किन्तु न्यायाधिपति (जैसे कि वे तब थे) दास ने, जिन्होंने बहुमत के निष्कर्ष से सहमति व्यक्त की थी उन परिस्थितियों के प्रति इन शब्दों में निर्देश किया था। जो युक्तियुक्त रूप से और ऐसे अपराधों के किए जाने को रोकने के लिए दण्ड के रूप में द्रुततर विचारण तथा शीघ्र प्रतिशोध की अपेक्षा कर सकते हैं—

> "दूसरी ओर ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जिसमें कि कुछ अपराध जैसे कि किसी निवास-गृह में चोरी, उनके बार-बार किए जाने के कारण अथवा अन्य सम्बद्ध परिस्थितियों के कारण, ऐसे अपराधों के किए जाने को रोकने के लिए दण्ड के रूप में द्रुततर विचारण तथा शीघ्र

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "5(1). A Special Court shall try such offences or classes of offences or cases or classes of cases, as the State Government may by general or special order in writing, direct."

---

[1] (1952) एस० सी० आर० 284.

प्रतिकर के लिए युक्तियुक्त रूप से अपेक्षा कर सकते हैं। क्या हम हत्या, आगजनी, लूट तथा बलात्कार जैसे नृशंस अपराधों से परिचित नहीं हैं जो विशिष्ट स्थानों में सामुदायिक दंगों के दौरान बड़े पैमाने पर किए गए थे और क्या वे वस्तुतः इक्की-दुक्की हत्या, आगजनी, लूट या बलात्कार से जो कि किसी अन्य जिले में किए गए हों जिस पर कि सामुदायिक दंगों का प्रभाव न पड़ा हो, भिन्न नहीं है? क्या समाज के अपने हित तथा क्षेम के लिए यह अपेक्षित नहीं है कि बड़े पैमाने पर किए गए सामुदायिक दंगों तथा तत्सम्बद्ध अपराधों के होने पर उनका शीघ्र तथा द्रुततर विचार किया जाए? क्या राजनैतिक हत्याएं राज्य अथवा समुदाय के किसी वर्ग जैसे कि स्त्रियों के विरुद्ध किए गए अपराधों द्वारा ऐसा आकार ग्रहण नहीं किया जा सकता है कि उन्हें विशेष प्रकार के ऐसे अपराधों के रूप में गठित किया जा सके जिनके साथ विशेष व्यवहार की अपेक्षा की जाए? क्या इन विशेष परिस्थितियों से इन अपराधों या अपराध के वर्गों या मामलों के वर्गों को ऐसी विशिष्ट क्वालिटी नहीं मिल जाती है जिससे कि उन्हें समान अपराधों के इक्के-दुक्के मामलों से पृथक् रखा जा सके और क्या यह युक्तियुक्त अथवा आवश्यक नहीं है कि राज्य को यह शक्ति प्रदत्त की जाए कि वह उनका वर्गीकरण एक अलग वर्ग के रूप में करे और उनके साथ तुरन्त व्यवहार करे। मेरे मन में इस बात का कोई सन्देह नहीं है कि जिन परिवेशी परिस्थितियों का और जिन विशेष लक्षणों का मैंने ऊपर उल्लेख किया है उनसे वर्गीकरण अत्यन्त साधार तथा युक्तियुक्त आधार मिलता है क्योंकि यह स्पष्ट है कि वे इन अपराधों को समान अथवा उसी प्रकार के ऐसे अपराधों से स्पष्ट रूप से प्रभेद नहीं करते हैं जो कि किसी और जगह तथा मामूली परिस्थितियों में किए गए हों। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस प्रभेद का उस उद्देश्य के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध है जिसे प्राप्त करने की अधिनियम द्वारा ईप्सा की गई है अर्थात् कुछ अपराधों का द्रुततर विचार करना। ऐसा वर्गीकरण हमारे संविधान के समान संरक्षा खण्डों के प्रतिकूल नहीं होगा क्योंकि कोई विभेद नहीं किया गया होगा। कारण यह कि जो कोई भी विनिर्दिष्ट परिस्थितियों में विनिर्दिष्ट क्षेत्र में विनिर्दिष्ट अपराध करेगा उसके साथ समान व्यवहार किया जाएगा और उसे विशेष प्रक्रिया के अधीन विचारण के लिए विशेष न्यायालय के समक्ष भेजा जाएगा। किसी विशेष न्यायालय द्वारा विचारण के लिए भेजे गए व्यक्ति ऐसे अन्य व्यक्तियों पर अंगुली नहीं उठा सकते हैं जिन पर किसी भिन्न स्थान पर और भिन्न परिस्थितयों में समरूप अथवा उसी प्रकार के अपराधों का मामूली न्यायालय के समक्ष आरोप लगाया गया हो

1974(4) eILR(PAT) SC 427

क्योंकि ऐसे अन्य व्यक्ति भिन्न प्रवर्ग के होते हैं और वे उनके समान नहीं होते हैं।"

इसलिए उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया—

"धारा 5(1), जहां तक कि वह राज्य सरकार को यह शक्ति देती है कि वह अपराधों या अपराध के वर्गों या मामलों के वर्गों के बारे में यह निदेश दे सके कि उनका विचारण विशेष न्यायालय द्वारा किया जाए, आवश्यक विवक्षा द्वारा तथा आशय से राज्य सरकार को यह भी शक्ति देती है कि वह अपराधी या अपराध के वर्गों या मामले के वर्गों का वर्गीकरण कर सके अर्थात् जिन अर्थों में मैंने स्पष्ट किया है, उचित वर्गीकरण कर सके। मेरे निर्णय में धारा का यह भाग, उचित अर्थान्वयन किए जाने तथा समझे जाने पर, राज्य सरकार को अनियन्त्रित तथा मार्गहीन शक्ति प्रदत्त नहीं करती है। इसके विपरीत यह शक्ति उचित वर्गीकरण हेतु आवश्यकता द्वारा नियन्त्रित जिसका मार्गदर्शन उद्देशिका द्वारा इस प्रकार से किया जाता है कि वर्गीकरण का उद्देशिका में वर्णित अधिनियम के उद्देश्य के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध होना चाहिए। इसलिए यह मनमानी शक्ति नहीं है।"

8. इस विनिश्चय की तुलना **कठो रेनिंग रावत बनाम सौराष्ट्र राज्य**[1] वाले अगले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के साथ करना दिलचस्प होगा जिसकी सुनवाई भागतः इसके साथ की गई थी (**अनवर अली सरकार वाला मामला**[2]) किन्तु जिसे इसलिए स्थगित कर दिया गया था कि प्रत्यर्थी राज्य को इस योग्य बनाया जा सके कि वह ऐसा शपथपत्र फाइल कर सके जिसमें इन परिस्थितियों का स्पष्टीकरण दिया गया हो जिनके परिणामस्वरूप सौराष्ट्र स्टेट पब्लिक सेफ्टी मैयर्स (थर्ड अमेण्डमेण्ट) आर्डिनेंस, 1949 को अधिनियमित किया गया था। इसकी सुनवाई उसी न्यायपीठ द्वारा की गई थी जिसने **अनवर अली सरकार वाले मामले**[2] का विनिश्चय दिया था। वहां विचाराधीन अध्यादेश की धारा 11 ठीक उन्हीं शब्दों में थी जिनमें कि वैस्ट बंगाल स्पेशल कोर्ट्स ऐक्ट की धारा 5(1) थी। इन दोनों के बीच फर्क केवल यह था कि सौराष्ट्र अध्यादेश द्वारा यह तात्पर्यित था कि वह सौराष्ट्र राज्य में सार्वजनिक सुरक्षा के लिए, सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए तथा शान्ति और परिशान्ति कायम रखने के लिए अपराध किया गया था। किन्तु राज्य की ओर से एक शपथपत्र फाइल किया गया

[1] (1952) एस० सी० आर० 435.
[2] (1952) एस० सी० आर० 284.

जिसमें राज्य के कुछ क्षेत्रों में डाकुओं के गिरोहों द्वारा लूटने, हथियाने, डकैती, नाक काटने तथा हत्या सम्बन्धी घटनाओं की बढ़ती संख्या के सम्बन्धी में तथ्य तथा आंकड़े पेश किए गए और इन ब्यौरों के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि उनसे इस दावे को समर्थन मिलता है कि राज्य की सुरक्षा तथा सार्वजनिक शान्ति खतरे में थी और उन अपराधों के साथ शीघ्रातिशीघ्र निपटना असम्भव हो गया था जो कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर किए गए थे। शपथपत्र में यह भी कथन किया गया था कि अधिसूचना में जिन क्षेत्रों का उल्लेख किया गया था वे डाकुओं के कार्यकलाप के मुख्य क्षेत्र थे। इस प्रकार चूंकि आक्षेपकृत अध्यादेश क्षेत्रीय अपराध के कुछ प्रकारों की बढ़ती गति को रोकने के लिए पारित किया गया था इसलिए आक्षेपकृत आदेश उस प्रकार तथा राज्य क्षेत्र के आधार पर अपनाये गए दो प्रकार के वर्गीकरण को युक्तियुक्त तथा विधिमान्य अभिनिर्धारित किया गया और उसमें अन्तर्वलित भेद की कोटि के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह किसी भी रूप में उससे अधिक नहीं थी जिसकी मांग समिति द्वारा की गई थी। यह अभिनिर्धारित किया गया कि उद्देशिका में सार्वजनिक सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने तथा शान्ति और परिशान्ति कायम रखने के प्रति जो निर्देश किया गया था उससे एक निश्चित उद्देश्य दर्शित होता है और अध्यादेश के उपबन्धों को लागू करने के प्रयोजन के लिए और केवल ऐसे अपराधों तथा मामलों को चुनने के लिए जिनसे सार्वजनिक सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने और शान्ति तथा परिशान्ति कायम रखने पर प्रभाव पड़ता है, राज्य सरकार को ठोस तथा युक्तियुक्त वर्गीकरण का आधार मिल जाता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि **अनवर अली सरकार वाले मामले**[1] का सम्बन्ध एक ऐसे विधान से था जो कि वर्गीकरण के किसी आधार के बिना दण्ड विधि के सम्पूर्ण क्षेत्र की बाबत थी सिवाय द्रुततर विचारण के और उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह वर्गीकरण के लिए अच्छा आधार नहीं था जब कि **कठी रेनिंग रावत बनाम सौराष्ट्र राज्य**[2] में उद्देशिका तथा अधिनियम के अधीन जारी की गई अधिसूचना द्वारा केवल कुछ ही क्षेत्रों में कुछ प्रकार के अपराधों का इस रूप में उल्लेख किया गया था कि वे ऐसे अपराध थे जिनका विचारण विशेष न्यायाधीश द्वारा किया जाना था और उनके बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वे ठीक उसी प्रकार के उपबन्ध को विधिमान्य बनाते हैं।

---

1 (1952) एस० सी० आर० 284.

2 (1952) एस० सी० आर० 435.

9. लच्छमण दास केवलराम अहूजा और एक अन्य बनाम मुम्बई राज्य[1] में बाम्बे पब्लिक सेफ्टी मेयर्स ऐक्ट, 1947 की धारा 12 द्वारा सरकार को इस बात के लिए सशक्त किया गया था कि वह विशेष न्यायाधीश द्वारा विचारण के लिए मामलों को निर्दिष्ट करे और इसलिए उस धारा को इस कारण शून्य घोषित किया गया था कि वह किसी वर्गीकरण के आधार पर अग्रसर नहीं होती थी। यह उसी कोटि में आता है जिसमें कि अनवर अली सरकार वाला मामला[2] आता है। कालक्रम के अनुसार अगला मामला सूरज मल मेहता एण्ड कम्पनी बनाम ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री और एक अन्य[3] वाला मामला है। उस मामले में टैक्सेशन आन इन्कम (इन्वैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1947 की धारा 5(4) के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह व्यक्तियों के उसी वर्ग की बाबत है जो कि भारतीय आयकर अधिनियम की धारा 34 की परिधि के अन्तर्गत आते हैं और चूंकि ये दोनों धाराएं ऐसे सब व्यक्तियों की बाबत हैं जिनके समान लक्षण हैं तथा समान विशेषताएं हैं। वहां समान लक्षण ये हैं कि वे ऐसे व्यक्ति हैं जिनके द्वारा अपनी आय का सही रूप में प्रकटीकरण नहीं किया गया है और जो आय पर कर के संदाय से बच निकले हैं और टैक्सेशन आन इन्कम (इन्वैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट द्वारा विहित प्रक्रिया भारतीय आयकर अधिनियम के अधीन विद्यमान् प्रक्रिया की अपेक्षा सारवान् रूप से उनके प्रतिकूल और अधिक कष्टप्रद है और इसलिए धारा 50(4) विभेदकारी विधान का भाग होने के कारण संविधान के अनुच्छेद 14 के उपबन्धों का उल्लंघन करती है और इस प्रकार वह विधिशून्य है। यहां यह उल्लेखनीय है कि जैसा कि अनवर अली सरकार वाले मामले में था वैसा ही इस मामले में भी भारतीय आयकर अधिनियम के अधीन साधारण विधि तथा टैक्सेशन आन इन्कम (इन्वैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट के अधीन असाधारण प्रक्रिया उन्हीं लोगों के वर्गों को लागू होती थी और इस बारे में कोई संकेत नहीं मिलता है कि भला कुछ मामलों को आयोग के समक्ष और कुछ मामलों को नियमित आयकर प्राधिकारियों के समक्ष विचारार्थ क्यों रखा जाए। किन्तु यहां भी निम्नलिखित मत का उल्लेख करना दिलचस्प है—

> "× × × × किन्तु सर्वांगीण स्थिति यह है कि यद्यपि भारतीय आयकर अधिनियम के अधीन वही अधिकारी जो पहले अस्थायी निष्कर्ष पर पहुंचता है, मामले की सुनवाई करता है और उसका विनिश्चय करता है, उसका विनिश्चय अन्तिम नहीं होता है

[1] (1952) एस० सी० आर० 710.

[2] (1952) एस० सी० आर० 284.

[3] (1955) 1 एस० सी० आर० 448.

बल्कि वह अपील किए जाने योग्य होता है जब कि धारा 5 की उपधारा (4) के उपबन्धों के अधीन आयोग द्वारा जो विनिश्चय निर्धारिती की अनुपस्थिति में अस्थायी रूप से निकाला जाता है वह उस समय अन्तिम हो जाता है जब वह उसकी उपस्थिति में लिया जाता है और दोनों प्रक्रियाओं के बीच इससे बहुत फर्क पड़ता है। यदि अन्वेषक तथा न्यायाधीश दोनों के रूप में कार्यवाही करते हुए अन्वेषण आयोग के निष्कर्षों का पुनर्विलोकन करने के लिए कोई उपबन्ध होता तो दोनों प्रक्रियाओं में ऐसा कोई सारवान् विभेद विद्यमान न होता जिससे कि मामला अनुच्छेद 14 के अन्तर्गत आ सकता। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है आक्षेपकृत अधिनियम में इस प्रकार का कोई उपबन्ध नहीं है।"

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि यदि अन्वेषण आयोग के विनिश्चय के विरुद्ध अपील किए जाने के लिए कोई उपबन्ध होता तो उस आयोग के प्रति निर्देश के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाता कि वह विधिशून्य है। हम इस पहलू के प्रति विशेष रूप से इसलिए निर्देश कर रहे हैं क्योंकि विचाराधीन दोनों परिनियमों में सिविल न्यायालय के समय अपील के लिए उपबन्ध है जो कि आयकर अधिनियम के अधीन सहायक अपील आयुक्त तथा अपील अधिकरण के समक्ष अपील के उपबन्ध से अधिक सुरक्षापूर्ण तथा अधिक उदार है। किन्तु अपीलार्थियों की ओर से हाज़िर होने वाले श्री सेन ने यह दलील पेश करने की कोशिश की थी कि इस विनिश्चय में तीन के प्रति निर्देश केवल सहायक अपील आयुक्त के समक्ष आयकर अधिकारी के आदेशों के विरुद्ध अपील के प्रति निर्देश है। हमारी समझ में यह नहीं आता है कि भला इससे क्या फर्क पड़ता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह तथ्य कि विचाराधीन परिनियमों के अधीन अपील साधारण सिविल न्यायालय के समक्ष की जा सकती है उनके पक्ष में है। इस मामले तथा अनवर अली सरकार वाले मामले में सामान्य लक्षण यह है कि विशेष प्रक्रिया के अन्तर्गत वह समस्त क्षेत्र आता है जो साधारण प्रक्रिया में अन्तर्विष्ट है और यह अभिनिर्धारित किया गया कि ऐसे मामलों में वर्गीकरण के लिए कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है जिन्हें अन्वेषण आयोग को भेजा जा सके। **श्री मीनाक्षी मिल्स लिमिटेड बनाम श्री ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री और एक अन्य**[1] तथा **एम० सी० टी० मुथैया और अन्य बनाम आयकर आयुक्त, मद्रास और एक अन्य**[2] वाले विनिश्चयों का आधार वही है जो कि **सूरज मल मेहता**[3] वाले मामले में था और इन पर कोई विचार-विमर्श करने की अपेक्षा नहीं है।

---

[1] (1955) 1 एस० सी० आर० 787.

[2] (1955) 2 एस० सी० आर० 1247.

[3] (1955) 1 एस० सी० आर० 448.

10. अब ए० थंगल कुंजू मुसालियर बनाम एम० वेंकिटचलम पोट्टी और एक अन्य वाले मामले[1] पर विचार करना उचित होगा जिसके प्रति यूनाइटेड स्टेट्स आफ त्रावनकोर एण्ड कोचीन की सरकार द्वारा त्रावनकोर टैक्सेशन आन इन्कम (इन्वैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1124 की धारा 5(1) के अधीन निर्देश किया गया है जो इण्डियन टैक्सेशन आन इन्कम (इन्वैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1947 पर आधारित है, त्रावनकोर इन्कम टैक्स इन्वैस्टीगेशन कमीशन द्वारा 1949 में अन्वेषण के लिए निर्दिष्ट किया गया था। सन् 1950 में भारतीय अधिनियम का विस्तार त्रावनकोर तथा कोचीन पर कर दिया गया और त्रावनकोर अधिनियम के बारे में यह अनुज्ञा दी गई कि वह कुछ उपान्तरणों के साथ प्रवर्तन में बना रहे। यह अभिनिर्धारित किया गया कि 1124 के त्रावनकोर अधिनियम संख्या 14 की धारा 5(1) का त्रावनकोर इन्कम टैक्स ऐक्ट, 1121 (1121 का संख्या 23) की धारा 47 के साथ परिशीलन करने पर वह विभेदात्मक नहीं है क्योंकि त्रावनकोर ऐक्ट (1121 का संख्या 23) की धारा 47(1) केवल उन व्यक्तियों के प्रति उद्दिष्ट है जिनके बारे में आयकर अधिकारी के कब्जे में निश्चित सूचना आ जाती है और जिसके परिणामस्वरूप आयकर अधिकारी को इस बात का पता चलता है कि उन व्यक्तियों की आय निर्धारण से बच निकली है या उसका न्यून निर्धारण किया गया है या बहुत ही कम दर पर निर्धारण किया गया है या उनकी दशा में अत्यधिक राहत दी गई है और धारा 47(1) द्वारा परिकल्पित व्यक्तियों का वर्ग एक निश्चित वर्ग है जिसके बारे में ऐसी निश्चित सूचना विद्यमान है जिसके परिणामस्वरूप यथास्थिति आठ वर्ष या चार वर्ष के भीतर आय की निश्चित मद या मदों के बारे में सूचना मिल जाती है जो कि निर्धारण से बच निकली थी। दूसरी ओर त्रावनकोर अधिनियम (1124 का संख्या 14) की धारा 5(1) के अधीन जिन व्यक्तियों पर लागू किया जाना है उनमें केवल ऐसे व्यक्ति आते हैं जिनके बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं थी और आय की उस मद या मदों का निश्चित रूप से कोई प्रकटीकरण नहीं हुआ था जो कि कराधान से बच निकली थी किन्तु जिनके बारे में सरकार के पास केवल यह विश्वास करने का प्रथमदृष्टया कारण था कि वे सारवान् रकम के रूप में कर के संदाय से बच निकले हैं। इसके अतिरिक्त वह युद्ध कालावधि के दौरान अर्जित आय पर कराधान के संदाय से बच निकलने तक ही निश्चित रूप से सीमित थी जब कि धारा 47(1) त्रावनकोर अधिनियम (1121 का संख्या 23) युद्धकालावधि के दौरान वाले आयकर से निर्धारण से बच निकलने तक सीमित नहीं थी। इसलिए यह उल्लेखनीय है कि वर्गीकरण के

---

1 (1955) 2 एस० सी० आर० 1196.

दोनों आधारों पर बीच प्रभेद की रेखा कितनी सूक्ष्म है। किन्तु इसके बारे में यह न्यायोचित समझा गया था कि इसके आधार पर मामलों के दोनों वर्गों के बीच भिन्न-भिन्न व्यवहार किया जा सकता है। इस बात पर ध्यान देना रुचिकर होगा कि सूरज मल महता वाले मामले[1] में टैक्सेशन आन इनकम (इन्वैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1947 (1947 का अधिनियम संख्या 30) की धारा 5(1) सम्बन्धी उपबन्ध के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि आयकर से सारवान् रूप से बच निकलने वाले ऐसे वर्ग के प्रति निर्देश किया गया था जिसके साथ उक्त अधिनियम में उपबन्धित कठोर प्रक्रिया के अधीन विशेष रूप से व्यवहार किया जाना चाहिए विधिमान्य वर्गीकरण के लिए उपबन्ध नहीं करता है। किन्तु इस मामले में सारवान् शब्द स्ट्राउड कृत जुडीशियल डिक्शनरी के प्रति निर्देश से तथा पाल्सर बनाम ग्रिनलिंग[2] वाले मामले में विस्काउण्ट साइमन द्वारा किए गए विधि के कथन के प्रति निर्देश से था जो कि मामले में फाइल किए गए शपथपत्र के प्रति होता है और उसके बारे में यह समझा गया था कि उससे व्यक्तियों का वह वर्ग अभिप्रेत है जिनके बारे में यह आशयित हो कि उन पर यह कठोर प्रक्रिया लागू की जानी होती है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि फिर भी एक ही वर्ग या प्रवर्ग के भीतर आने वाले व्यक्तियों के साथ ऐसे विभेदात्मक व्यवहार की सम्भावना आवश्यक रूप से इस विधान को अविधिमान्य नहीं बना सकती है और यह उपधारणा की जानी चाहिए कि जब तक कि तत्प्रतिकूल दर्शित न किया जाए किसी विधि विशेष के प्रवर्तन को बुरी नजर से तथा असमान रूप से लागू नहीं किया जाएगा और सरकार द्वारा जिन व्यक्तियों के वर्गों का चयन इस रूप में किया जाता है कि उन्हें आयोग द्वारा अन्वेषण के लिए निर्दिष्ट किया जाए वह विभेदात्मक नहीं होगा। सौराष्ट्र वाले मामले में न्यायाधिपति मुखर्जी के निर्णय के प्रति निर्देश किया गया जो इस प्रकार था—

> "× × × × × ऐसे मामलों में कार्यपालिका को दी गई शक्ति के अनुसार उस पर यह कर्तव्य आ जाता है कि यह परिनियम में उपदर्शित उद्देश्य के अनुकूल विधान की विषयवस्तु का वर्गीकरण करे। ऐसी पद्धतियों में शासकीय अधिकरणों को जो विवेकाधिकार दिया जाता है वह मार्गहीन विवेकाधिकार नहीं होता है बल्कि उसका प्रयोग उस नीति के अनुसार किया जाता है जिसे कार्यान्वित करने के लिए विवेकाधिकार दिया गया है और वर्गीकरण के औचित्य की परख उस उद्देश्य के सम्बन्ध में की जानी होती है। यदि प्रशासी निकाय

[1] (1955) 1 एस० सी० आर० 448.

[2] (1948) ए० सी० 291, 317.

व्यक्तियों और वस्तुओं का वर्गीकरण किसी ऐसे आधार पर करती है जिसका कि विधानमण्डल के उद्देश्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो निश्चित है कि उसकी कार्यवाही को यह कह कर बातिल नहीं किया जा सकता है कि वह समान संरक्षा खण्ड का उल्लंघन करती है। दूसरी ओर यदि स्वयं परिनियम में कोई नीति या उद्देश्य प्रकट नहीं किया गया है और वह किसी अन्य पर यह प्राधिकार प्रदत्त करता है कि वह इच्छानुसार चयन कर सके तो परिनियम के बारे में प्रत्यक्षतः यह अभिनिर्धारित किया जाएगा कि वह विभेदात्मक है, चाहे वह किसी भी रूप में लागू किया गया हो।"

11. **केदार नाथ बेजोरिया** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[1] में वेस्ट बंगाल क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेंट (स्पेशल कोर्ट्स) ऐक्ट, 1949 पर विचार किया जा रहा था। इस अधिनियम में कुछ अपराधों के विचारण के लिए विशेष प्रक्रिया के लिए उपबन्ध था। उसे कुछ अपराधों के अधिक शीघ्र विचारण तथा अधिक प्रभावी दण्ड के लिए उपबन्ध करने वाले अधिनियम का नाम दिया गया था। यह अपराध अधिनियम की अनुसूची में उपवर्णित थे। अधिनियम द्वारा प्रान्तीय सरकार को यह शक्ति दी गई थी कि वह निर्दिष्ट क्षेत्रों के लिए दण्ड अधिकारिता रखने वाले विशेष न्यायालयों का गठन करे और ऐसे न्यायालयों पर पीठासीन होने के लिए विशेष न्यायाधीशों की नियुक्ति करे। यह मत व्यक्त किया गया कि—

"× × × × यह कहा गया है कि विभेद के दोष के अन्तर्गत व्यक्तियों के किसी वर्ग में से किसी एक व्यक्ति को भिन्न व्यवहार के लिए चुनने की मार्गहीन तथा अनिर्बन्धित शक्ति आती है जिनमें से सभी व्यक्ति समान रूप से स्वतन्त्र हैं और उनकी परिस्थिति भी समान है, चाहे वह वर्ग बड़ा हो या छोटा। इस दलील में उन व्यक्तियों के बीच प्रभेद को नजरअन्दाज किया गया है जहां कि विधानमण्डल स्वयं व्यक्तियों अथवा वस्तुओं का सम्पूर्ण वर्गीकरण करता है और उन पर उस विधि को लागू करता है जो उसके द्वारा अधिनियमित की गई हैं और ऐसे अन्य मामलों के बीच जहां कि विधानमण्डल केवल उस विधि को अधिकथित करता है जो ऐसे व्यक्तियों या वस्तुओं को लागू की जाएगी जो कि किसी दिए वर्णन के अनुकूल हो अथवा कुछ समान लक्षणों को दर्शित करती हों। किन्तु सुनिश्चित तथा सम्पूर्ण वर्गीकरण करने में असमर्थ रहने के कारण वह इस बात को प्रशासनिक प्राधिकारी पर छोड़

[1] (1954) एस० सी० आर० 30.

देती है कि वह परिभाषित वर्ग के अन्दर व्यक्तियों या वस्तुओं को चयन करते हुए लागू करे। किन्तु साथ ही उन मानकों को अधिकथित कर दिया जाता है या कम से कम स्पष्ट शब्दों में उस नीति और प्रयोजन को उपदर्शित कर दिया जाता है जिसके अनुसार और जिसकी पूर्ति करते हुए प्रशासनिक प्राधिकारी से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह विधि के प्रवर्तन के अधीन लाये जाने वाले व्यक्तियों या वस्तुओं को चुने। इस प्रकार के विधान का एक जाना-माना उदाहरण निवारक निरोध अधिनियम, 1950 है जो कि यह उपदर्शित करेगा कि मामले के किन वर्गों में और किन प्रयोजनों के लिए निवारक निरोध का आदेश दिया जा सकता है, कार्यपालिक प्राधिकारी में यह विवेकाधिकार निहित कर देता है कि वह विधि के अधीन लाए जाने वाले विशिष्ट व्यक्तियों का चयन कर ले। इसका एक और उदाहरण दण्ड प्रक्रिया संहिता के उन उपबन्धों के रूप में है जिनमें शासकीय कार्यवाहियों के सम्बन्ध में लोक सेवकों द्वारा किए गए अपराध के लिए सरकार की मंजूरी के बिना अभियोजन से उन्मुक्ति के लिए उपबन्ध किया गया है और यहां विधि की नीति यह है कि सार्वजनिक अधिकारियों को प्राइवेट अभियोजन द्वारा अनुचित रूप से तब तक तंग नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि सरकार की राय में लोक सेवक पर मुकदमा चलाने के लिए युक्तियुक्त आधार न हों और मंजूरी दिए जाने के लिए तदनुसार सीमाएं रखी जानी चाहिएं। इसलिए यह कहना सही है कि अधिनियम की धारा 4 संविधान के अनुच्छेद 14 का केवल इस कारण उल्लंघन करती है कि सरकार इस बात के लिए मजबूर नहीं की जा सकती कि वह अनुसूची में वर्णित अपराधों के सभी मामलों को विशेष न्यायाधीशों को आबंटित करे बल्कि उसे इस विषय में विवेकाधिकार दिया गया है।"

तत्पश्चात् **अनवर अली सरकार वाले मामले**[1] का हवाला दिया गया और यह संकेत किया गया कि उसमें जो मत व्यक्त किए गए थे वे **बेजोरिया वाले मामले**[2] में विचाराधीन परिनियम को लागू नहीं होते थे जो कि ऐसे वर्गीकरण पर आधारित था जो कि युद्ध के उपरान्त विद्यमान असाधारण आर्थिक एवं सामाजिक दशाओं के सन्दर्भ में आसानी से समझ में आने वाली हैं और प्रत्यक्ष है कि उनका तात्पर्य विधायी प्रयोजन पूरा करने का है। **सौराष्ट्र वाले मामले**[3] में न्यायाधिपति मुखर्जी द्वारा किए गए कथन का भी हवाला दिया गया—

[1] (1952) एस० सी० आर० 284

[2] (1954) एस० सी० आर० 30.

[3] (1952) एस० सी० आर० 435.

"× × × × इस नए अध्यादेश को पारित करने का उद्देश्य समान रूप से वही है जिसके लिए कि पूर्वतर अध्यादेश पारित किया गया था और पश्चात्‌कथित अध्यादेश की प्रस्तावना को परिवेशी परिस्थितियों के साथ पढ़ने से एक निश्चित विधायी नीति देखने में आती है जिसे प्रभावी बनाने की अधिनियमिति में अन्तर्विष्ट विभिन्न उपबन्धों द्वारा ईप्सा की गई है। यदि यह आवश्यक समझा जाता है कि किसी असाधारण परिस्थिति से निपटने के लिए विशेष न्यायालयों की अपेक्षा है तो यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसे न्यायालयों द्वारा विचारण के लिए अपराधों को चुनने के लिए राज्य सरकार में प्राधिकार निहित किया जाना किसी भी प्रकार से अयुक्तियुक्त है।"

12. अब हम कंगेसरी हलदर और एक अन्य वनाम पश्चिमी बंगाल राज्य[1] वाले मामले के प्रति निर्देश करेंगे। वहां अपीलार्थी के विरुद्ध इसलिए मुकदमा चलाया गया था कि उन्होंने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 902 तथा 436 के साथ पठित धारा 120ख के अधीन अपराध किए थे और यह मुकदमा वैस्ट बंगाल ट्रिब्यूनल्स आफ क्रिमिनल ज्यूरिसडिक्शन ऐक्ट, 1952 के अधीन गठित प्राधिकरण के समक्ष चलाया गया था। उस अधिनियम के अधीन जारी की गई अधिसूचना में कुछ क्षेत्रों को विनिर्दिष्ट कालावधि के भीतर विक्षुब्ध क्षेत्र घोषित किया गया था और अपीलार्थियों के विरुद्ध मामला उस क्षेत्र में तथा उस पर कालावधि के दौरान उनके कार्यकलाप की बाबत था। यह अभिनिर्धारित किया गया कि आक्षेपकृत अधिनियम द्वारा किया गया वर्गीकरण और जिस प्रभेद द्वारा अपराधियों का वर्गीकरण किया गया है, उसका अधिनियम के उद्देश्य के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध है जिससे कि अधिनियम की अनुसूची में विनिर्दिष्ट अपराधों के शीघ्र विचारण के लिए उपबन्ध किया जा सके। उसमें कुछ ऐसे अन्य अपराधों की भी चर्चा की गई थी जिन्हें अधिनियम की अनुसूची में विनिर्दिष्ट नहीं किया गया था। इस मामले पर विचार करते हुए न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

"इस प्रश्न से हम निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि हम इस बात की जांच करें कि क्या अधिनियम के विभेदात्मक उपबन्ध किसी युक्तियुक्त वर्गीकरण पर आधारित हैं और क्या अधिनियम की परिधि के अन्तर्गत लाए गए अपराधियों के विभेद का अधिनियम की नीति के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध है और उस उद्देश्य के साथ भी जिसको पूरा करने के लिए वह आशयित है। प्रस्तावना से यह

[1] (1960) 2 एस० सी० आर० 646.

दर्शित होता है कि विधानमण्डल में समस्या पर विचार कर रहा था जो उन दंगों से उत्पन्न हुई थी जिसके कारण राज्य की सुरक्षा को चुनौती दी गई थी और सार्वजनिक शान्ति तथा परिशान्ति बनाए रखने और उद्योग तथा कारबार के लिए रक्षोपाय करने के बारे में गम्भीर विवाद्यक खड़े किए गए थे। इसलिए उसने यह निश्चय किया कि अनुसूचित अपराधों के शीघ्र विचारण के लिए उपबन्ध करके स्थिति से निपटाया जाए। इस प्रकार अधिनियम के उद्देश्य और उसमें अन्तर्निहित सिद्धान्तों के बारे में कोई सन्देह नहीं है। यह सही है कि सभी दाण्डिक अपराधों का शीघ्रता से विचारण किया जाना वांछनीय है किन्तु विधानमण्डल की इस उत्सुकता की सराहना करने में कोई कठिनाई नहीं है कि वह अनुसूचित अपराधों का विचारण करने के लिए विशेष प्रक्रिया का उपबन्ध करे जिनसे कि समस्त सम्भव विलम्ब को दूर किया जा सके जो संहिता की सामान्य प्रक्रिया को अपनाए जाने के कारण अन्तर्वलित होता है। यदि राज्य में कुछ क्षेत्रों में होने वाले दंगों को नियन्त्रण में रखना है और जिस दोष की आशंका है उसे रोकना है तथा जड़ से उखाड़ना है तो यह स्पष्ट है कि किए गए अपराधों का अतिशीघ्र विचारण करना उचित होगा।

स्पष्ट है कि अधिनियम जिन अपराधों को लागू होता है उनका वर्गीकरण करना युक्तियुक्त होगा। अनुसूची की चार मदों में विनिर्दिष्ट अपराध स्पष्ट रूप से ऐसी प्रकृति के अपराध हैं जिनके परिणामस्वरूप दंगे हुए थे और आशय यह था कि इन अपराधों को शीघ्रातिशीघ्र दण्डित किया जाए जिससे कि राज्य की सुरक्षा के प्रति धमकी समाप्त की जाए और लोक शान्ति तथा परिशान्ति बनाई रखी जा सके। यह दलील देना व्यर्थ होगा कि यदि अनुसूची में वर्णित प्रकार के अपराध किए जाते हैं और विधानमण्डल यह समझता है कि उनके परिणामस्वरूप लोक शान्ति तथा परिशान्ति भंग होती है और उससे राज्य की सुरक्षा को खतरा पहुंचाता है तो उनके साथ एक वर्ग के रूप में व्यवहार नहीं किया जा सकता है। संहिता द्वारा विनिर्दिष्ट अपराधों के समान वर्गों के अधीन व्यष्टियों द्वारा किए गए अन्य अपराध अधिनियम द्वारा अपनाए गए वर्गीकरण युक्तियुक्त रूप से अपवर्जित किए जा सकते हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति में समस्या को पैदा करने की नहीं है जिसका सामना करने के लिए अधिनियम आशयित है। इसलिए हमारा इस बारे में समाधान हो गया है कि अधिनियम द्वारा किया गया वर्गीकरण युक्तियुक्त है और जिस प्रभेद

के आधार पर अधिनियम के अन्तर्गत आने वाले अपराधियों के साथ अन्य अपराधियों की तुलना में एक वर्ग गठित करने वाले अपराधियों के रूप में व्यवहार किया जाता है उसका अधिनियम के उद्देश्य के साथ तथा उसमें अन्तर्निहित नीति के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध है। इस दलील को स्वीकार करना कठिन होगा कि अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करता है।"

न्यायालय ने यह कहा था कि अनवर अली सरकार वाले मामले[1] में बहुमत का विनिश्चय दो मुख्य विचारों पर आधारित था अर्थात् द्रुततर विचारणों की आवश्यकता के बारे में उद्देशिका में किए गए कथन [illegible] पर ध्यान देते हुए धारा 5(1) द्वारा किए गए वर्गीकरण को कायम रखना कठिन था और यह कि कार्यपालिका पर जो विवेकाधिकार छोड़ा गया था वह अनियन्त्रित था और उसके प्रयोग के लिए परिनियम द्वारा कोई मार्गदर्शन नहीं दिया गया था। यह भी कहा गया कि सौराष्ट्र राज्य वाले मामले[2] में बहुमत द्वारा यह मत अपनाया गया था कि अधिनियम की उद्देशिका से अधिनियम में अन्तर्निहित नीति के बारे में स्पष्ट संकेत मिलता है और उस उद्देश्य के बारे में भी जिसे पूरा करने के लिए वह आशयित है और यह कि जिस वर्गीकरण के आधार पर आक्षेपकृत उपबन्ध चलाए गए है वह युक्तियुक्त वर्गीकरण है और यह कि जिस प्रभेद के आधार पर वर्गीकरण किया गया था उसका अधिनियम के उद्देश्य तथा नीति के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध था। तत्पश्चात् उन्होंने लक्ष्मन दास केवल राम आहूजा वाले मामले[3] का हवाला दिया और यह कहा कि उसमें केवल अनवर अली वाले मामले[1] का अनुसरण किया गया था। तत्पश्चात् केदार नाथ बजोरिया वाले मामले[4] में दिए गए विनिश्चय का हवाला दिया गया और मुख्य न्यायाधिपति पातंजलि शास्त्री के इस कथन के प्रति निर्देश किया गया कि सौराष्ट्र वाले मामले से यह प्रतीत होता है कि उसमें यह सिद्धान्त अभिकथित है कि यदि आक्षेपकृत विधान में उस नीति का संकेत मिलता है जिससे उसे प्रोत्साहन मिला था और उस उद्देश्य का भी जिसे प्राप्त करने की उसमें ईप्सा की गई है तो यह तथ्य मात्र कि विधान अपने-आप में उन व्यक्तियों या वस्तुओं का पूर्ण तथा सुनिश्चित वर्गीकरण नहीं करता है जिन्हें वह लागू किया जाता है बल्कि उसमें यह उपबन्ध है कि

[1] (1952) एस० सी० आर० 284.

[2] (1952) एस० सी० आर० 435.

[3] (1952) एस० सी० आर० 710.

[4] (1954) एस० सी० आर० 30.

विधि के सम्बन्ध में उसके लागू किए जाने के बारे में चयन कार्यपालिक प्राधिकारी द्वारा उपदर्शित मानक के अनुसार अथवा अन्तर्निहित नीति के अनुसार एवं प्रकट किए गए उद्देश्य के अनुसार किया जाए तो ये उस पर लांछन लगाने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है कि वह मनमाना है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करता। पूर्ववर्ती विनिश्चयों के परिणाम का सारांश इस प्रकार दिया गया था—

"इन विनिश्चयों का परिणाम यह प्रतीत होता है। आक्षेपकृत परिनियम की विधिमान्यता पर इस आधार पर विचार करते हुए कि वह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है पहले इस बात का अभिनिश्चय करना आवश्यक होगा कि परिनियम में अन्तर्निहित नीति क्या है और उसके द्वारा पूरा किए जाने के लिए आशयित उद्देश्य क्या है। इस प्रक्रिया में अधिनियम की उद्देशिका और उसके तात्विक उपबन्धों पर विचार किया जा सकता है और निश्चित रूप से किया जाना चाहिए। इस प्रकार अधिनियम की नीति तथा उद्देश्य का अभिनिश्चय करने के पश्चात् न्यायालय को चाहिए कि वह उसकी विधिमान्यता की परीक्षा करने में दोहरी कसौटी को लागू करे—क्या वर्गीकरण युक्तियुक्त है और वह बोधगम्य प्रभेद पर आधारित है; तथा क्या प्रभेद का आधार उसकी जानीमानी नीति तथा उद्देश्य के साथ कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध रखता है? यदि ये दोनों कसौटियां पूरी उतरती हैं तो परिनियम के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह विधिमान्य है और ऐसी दशा में इस बारे में विचार कि क्या वही परिणाम भिन्न वर्गीकरण अपना कर बेहतर रूप से पूरा किया जा सकता था, न्यायिक जांच की परिधि के बाहर होगा। यदि इन दोनों कसौटियों में से कोई भी एक कसौटी पूरी नहीं उतरती है तो परिनियम को अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करने के कारण रद्द कर दिया जाना चाहिए। इस कसौटी को लागू करते हुए हमें यह प्रतीत होता है कि धारा 2 (बी) में अन्तर्विष्ट आक्षेपकृत उपबन्ध तथा धारा 4(1) के परन्तुक के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वे अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करते हैं। जैसा कि हमने पहले संकेत किया है यदि धारा 2 (बी) द्वारा प्राधिकृत अधिसूचना जारी करने में राज्य सरकार असद्भावपूर्वक रूप में कार्य करती है अथवा अपनी शक्ति का प्रयोग अनुचित रूप में करती है तो उस पर सदैव प्रभावकारी रूप से आक्षेप किया जा सकता है। किन्तु किसी ऐसे अभिवाक् के अभाव में और इस निमित्त किसी पर्याप्त सामग्री के बिना मामले के इस पहलू पर इस अपील में विचार नहीं किया जा सकता है।"

13. ज्योति प्रसाद बनाम प्रशासक, दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र[1] में स्लम एरियाज़ (इम्प्रूवमेण्ट एण्ड क्लीयरेन्स) ऐक्ट, 1956 की धारा 19 के बारे में, जिसमें यह उपबन्ध किया गया था कि गन्दी बस्ती क्षेत्रों के रूप में घोषित क्षेत्रों में इमारतों की बाबत किसी अभिधारी की बेदखली के लिए अभिप्राप्त किसी डिक्री को सक्षम प्राधिकारी की अनुज्ञा के बिना कार्यान्वित नहीं किया जा सकता है, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह इस आधार पर समान संरक्षा विधि का उल्लंघन नहीं करती है कि अधिनियम की धारा 19(1) के अधीन उसके विवेकाधिकार के उपयोग में सक्षम प्राधिकारी को पर्याप्त मार्गदर्शन दिया गया था। इस न्यायालय के समक्ष यह दलील दी गई कि स्लम एरियाज़ ऐक्ट की धारा 19(3) कार्यपालिक अधिकारी में एक मार्गहीन, अनियमित तथा अनियन्त्रित शक्ति निहित करती है जिससे कि किसी ऐसी डिक्री को कार्यान्वित करने की अनुज्ञा रोकी जा सके जिसे पिटीशनर ने भाटक नियन्त्रण अधिनियम में यथा अधिनियमित विधि की युक्तियुक्त अपेक्षाओं को पूरा करने के पश्चात् अभिप्राप्त किया था और इस प्रकार वह अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करती है। इस दलील पर विचार करते हुए न्यायालय ने इस न्यायालय के विनिश्चयों के सारांश का हवाला दिया था जिनमें कि 1959 तक दिए गए विनिश्चयों में अनुच्छेद 14 के बारे में समुचित अर्थान्वयन अधिकथित किया है जो कि रामकृष्ण डालमिया बनाम न्यायाधिपति तन्दोलकर[2] में मुख्य न्यायाधिपति दास द्वारा किया गया था और न्यायालय ने किंचित भिन्न आधारों पर स्वयं अपना सारांश तैयार किया था जिसमें से मद संख्या 2 और 4 महत्वपूर्ण हैं—

"1. ....

2. हो सकता है कि अधिनियमिती या अधिनियम के निबन्धनों द्वारा विधि का विभेदात्मक नियम अधिनियमित न किया गया हो किन्तु वह समान स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों या वस्तुओं के साथ असमान अथवा विभेदात्मक व्यवहार करने के लिए समर्थ बनाता हो। ऐसा तब होता है जब विधानमण्डल किसी प्राधिकारी में कोई विवेकाधिकार निहित करता है, चाहे वह सरकार को या प्रशासनिक पदाधिकारी जो कि कार्यपालक अधिकारी के रूप में कार्य कर रहा हो या न्यायिकवत् हैसियत में काम कर रहा हो और ऐसा ऐसे विधान द्वारा किया गया हो जिसमें कोई नीति अधिकथित न की गई हो या कोई ठोस अथवा बोधगम्य प्रयोजन प्रकट न किया गया हो जिससे कि प्राधिकारी में मार्गहीन अथवा

[1] (1962) 2 एस० सी० आर० 125.

[2] (1959) एस० सी० आर० 279.

मनमानी ऐसी शक्ति निहित की गई हो जो उसे विभेद करने में समर्थ बनाती हो।

ऐसी परिस्थितियों में विधि का उपबन्ध जो कि प्राधिकारी को विभेद करने के योग्य बनाता हो या ऐसा करने के लिए अनुज्ञात करता हो, अनुच्छेद 14 द्वारा प्रदत्त समान संरक्षा की गारन्टी का अतिक्रमण करता है।

3. ....

4. किन्तु समान संरक्षा के नियम का पालन करने के लिए विधान-मण्डल के लिए आवश्यक नहीं है कि पदाभिहित प्राधिकारी के मार्गदर्शन के लिए नियम, जिसे उस शक्ति का प्रयोग करना होता है अथवा जिसमें विवेकाधिकार निहित किया जाता है, स्वयं कानूनी उपबन्ध में अभिव्यक्त शब्दों में अधिकथित किए जाएंगे।

(तत्पश्चात् बेजोरिया वाले मामले[1] में विधि के कथन का हवाला दिया गया जिसका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है।)

इस प्रकार ऐसा मार्गदर्शन निम्नलिखित से मिल सकता है—(क) शपथपत्रों के रूप में अपने समक्ष विद्यमान् साक्ष्य द्वारा मूल्यांकित या विचारगत किए जाने वाले जाने-माने तथ्यों के साथ पठित उन परिदेशी परिस्थितियों के प्रकाश में पठित उद्देशिका जिनके द्वारा विधान आवश्यक हो गया था। यहां कट्टी रैनिंग रावत बनाम सौराष्ट्र राज्य[2] ऐसा उदाहरण है जिसमें कि ऊपर उपदर्शित रीति में मार्गदर्शन प्राप्त किया गया था, (ख) अथवा अधिनियम की नीति तथा प्रयोजन से जो कि समनुषंगी अथवा तुल्य स्थितियों को लागू होने वाले अन्य प्रवृत्त उपबन्धों से या अधिनियमिती द्वारा पूरा किए जाने वाले उद्देश्य से सामान्य रूप से एकत्रित किया जा सकता है।"

तत्पश्चात् न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

"चतुर्थ शीर्ष के अधीन उपदर्शित परिस्थितियों में, जैसा कि तीसरे शीर्षक में है, अधिनियमित विधि विधिमान्य होगी क्योंकि वह न तो अतिशय प्रत्यायोजन और न ही किसी एक पहलू से देखा गया कि विधायी प्राधिकार का त्याग है और न कि वह इस कारण अनुच्छेद 14 के उल्लंघन के आधार पर आक्षेप किया जा सकता है कि वह समान रूप से

[1] (1954) एस० सी० आर० 30.

[2] (1952) एस० सी० आर० 435.

स्थित व्यक्तियों के साथ विभेदात्मक व्यवहार प्राधिकृत करता है अथवा अनुज्ञात करता है। किन्तु कार्यपालक अथवा न्यायिककल्प कार्य विशेष पर, जैसा कि पहले कहा गया है, इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकेगा कि वह अनुच्छेद 14 द्वारा गारन्टी की गई विधि की समान संरक्षा का उल्लंघन करता है क्योंकि परिनियम द्वारा रियायत के तौर पर वह इजाजत नहीं दी गई थी बल्कि इस आधार पर कि वह इस कारण अधिकारातीत है कि उसे स्वयं अधिनियमिती द्वारा मंजूरी नहीं दी गई है या प्राधिकृत नहीं किया गया है।"

यद्यपि तत्पश्चात् न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि क्या अधिनियम में नज़ीरों के लिए कोई मार्गदर्शन मिलता था या उसमें कोई सिद्धान्त अधिकथित किए गए थे और उसने उसकी विधिमान्यत: को कायम रखा था तथापि चौथी प्रस्थापना अति महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत मामलों में भी अधिकारियों द्वारा उस प्रयोजन का कथन करते हुए शपथपत्र फाइल किए गए हैं जिनके लिए कि उपबन्ध बनाए गए थे। अधिनियमितियों की नीति तथा प्रयोजन से यह साफ ज़ाहिर है कि विधानमण्डल का यह आशय था कि उन्हें विशेष वर्गों को लागू किया जाए अर्थात् (1) सरकार की सम्पत्ति तथा (2) मुम्बई नगर-निगम की सम्पत्ति को और उन सम्पत्तियों का प्रत्युद्धरण करने के लिए एक शीघ्र पद्धति के लिए उपबन्ध किया जाए।

14. संक्षेप रूप में—

"जहां कि कोई परिनियम मामूली प्रक्रिया से भिन्न अधिक कठोर प्रक्रिया के लिए उपबन्ध करता है जो कि मामूली प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले समस्त क्षेत्र को अन्तर्वलित करती है, जैसा कि अनवर अली सरकार वाले मामले[1] तथा सूरज मल मेहता वाले मामले[2] में था वहां कि मामलों के वर्ग पर ध्यान दिए बिना किन्हीं मार्गदर्शक सिद्धान्तों को अधिकथित किया गया था जिनमें कि दोनों प्रक्रियाओं में से किस प्रक्रिया का आश्रय लिया जाएगा वहां अनुच्छेद 14 उस परिनियम को लागू होगा। वहां भी, जैसा कि सूरज मल मेहता वाले मामले में बताया गया था, अपील के लिए उपबन्ध त्रुटि को दूर कर सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे मामलों में यदि उद्देशिका तथा परिवेशी परिस्थितियों से तथा परिनियम के उपबन्धों से भी जो कि शपथपत्रों द्वारा स्पष्टकृत किए गए हों और परिवर्धित किए गए हों, आवश्यक मार्गदर्शक सिद्धान्तों का अनुमान लगाया

[1] (1952) एस० सी० आर० 284.

[2] (1955) 1 एस० सी० आर० 448.

जा सकता है जैसा कि सौराष्ट्र वाले मामले[1] तथा ज्योति प्रसाद वाले मामले[2] में था तो वहां परिनियम को अनुच्छेद 14 लागू नहीं होगा। इसके अतिरिक्त जहां कि स्वयं परिनियम के अन्तर्गत केवल एक ही वर्ग के मामले आते हैं जैसा कि हलदर वाले मामले[3] और बेजोरिया वाले मामले[4] में था, वहां परिनियम विधिशून्य नहीं होगा। यह तथ्य कि ऐसे मामलों में कार्यपालिक प्राधिकारी इस बात का चुनाव करेगा कि विशेष प्रक्रिया के अधीन किन मामलों का विचारण किया जाएगा परिनियम की विधि-मान्यता पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिए यह दलील कि दोनों प्रक्रियाओं का उपलभ्य होना मात्र उनमें से एक प्रक्रिया को अर्थात् विशेष प्रक्रिया को दूषित कर देगा, युक्ति अथवा प्राधिकार द्वारा समर्थित नहीं होता है।"

15. हमारे समक्ष जो दो प्रकार के मामले हैं उन द्वारा यह स्पष्ट रूप से अधिकथित किया गया है कि उनके पीछे प्रयोजन क्या है अर्थात् यह कि निगम तथा सरकार के परिसर उनका अधिभोग रखने वाले अप्राधिकृत व्यक्तियों की बेदखली के मामले में द्रुत प्रक्रिया के अधीन होने चाहिए। यह जिन प्राधिकारियों को शक्ति प्रदत्त की गई है उनके लिए पर्याप्त मार्गदर्शन है। परिनियमों में स्पष्ट रूप से ऐसा संकेत दे दिए जाने पर सम्बद्ध प्राधिकारियों से यह प्रत्याशा की जा सकती है कि वह अधिनियमों द्वारा विहित प्रक्रियाओं से लाभ उठाएंगे और मामूली सिविल न्यायालय की विस्तृत प्रक्रिया का सहारा नहीं लेंगे। सामान्य रूप से भी यह नहीं सोचा जा सकता है कि किसी प्राधिकारी को, जिसके पास दो-प्रक्रियाओं का चुनाव हो जिनमें से एक उसे इस योग्य बनाती है कि वह सम्पत्ति का तुरन्त कब्जा ले सकता है और दूसरी लम्बी प्रक्रिया है, पश्चादुक्त लम्बी प्रक्रिया का सहारा लेने की अनुज्ञा हो। प्रशासनिक प्राधिकारी भी न्यायालयों के समान शून्य में कृतशील नहीं होते हैं। यह अभिनिर्धारित करना अत्यन्त अवास्तविक होगा कि कोई प्रशासनिक प्राधिकारी सरकारी सम्पत्ति अथवा नगरपालिका की सम्पत्ति के अप्राधिकृत अधिभोगियों की बेदखली के लिए कार्यवाही करते हुए एक मामले में तो अधिनियमों द्वारा विहित प्रक्रिया का सहारा ले और दूसरे मामले में मामूली सिविल विधि का सहारा ले। इन दोनों अधिनियमों के उपबन्धों को इस काल्पनिक सिद्धान्त के आधार पर रद्द नहीं किया जा सकता है कि शक्ति का प्रयोग ऐसी अवास्तविक रीति में किया जाएगा। इस बात पर विचार करने में कि क्या अधिकारी एक प्रकार के

[1] (1952) एस० सी० आर० 435.

[2] (1962) 2 एस० सी० आर० 125.

[3] (1960) 2 एस० सी० आर० 646.

[4] (1954) एस० सी० आर० 30.

अधिकारियों तथा दूसरे प्रकार के अधिकारियों के बीच विभेद करते हैं, हमें सामान्य मानविक व्यवहार पर विचार करना होगा न कि असाधारण व्यवहार का। हमें प्रत्येक काल्पनिक विभेद की सम्भाव्यता पर विचार न करते हुए विभेद के वास्तविक जोखिम पर ही विचार करना चाहिए। यह उन मामलों में से नहीं है जहां कि विभेद परिनियम पर स्पष्ट रूप से अंकित हो। हो सकता है कि विभेद किया गया हो किन्तु यह अत्यन्त अनधिसम्भाव्य है और यदि वास्तविक पद्धति में विभेद किया भी गया हो तो यह न्यायालय शक्तिहीन नहीं है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य कि विधानमण्डल का यह विचार था कि मामूली प्रक्रिया सरकारी तथा निगम की सम्पत्ति के अप्राधिकृत प्राधिकारियों को बेदखल करने में अपर्याप्त अथवा निष्प्रभावी है और उसके द्वारा उसके लिए विशेष द्रुत प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है उन प्राधिकारियों के लिए स्पष्ट मार्गदर्शन है जिन पर कि अप्राधिकृत अधिभोगियों का कर्त्तव्य रखा गया है। इसलिए हम नार्दर्न इण्डिया केटरर्स वाले मामले में बहुमत के निर्णय से सहमत होने में असमर्थ हैं।

16. यहां हम यह जोड़ दें कि उस विनिश्चय का आधार यह है कि अधिनियम की धारा 5 कलक्टर को इस योग्य बनाती है कि वह धारा 5 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध विभेद कर सके और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध वाद लाकर कार्यवाहियां संस्थित कर सके। उस आधार पर की गई कार्यवाहियों में बहुमत के निर्णय में एक स्पष्ट गलती की गई है। अधिनियम की धारा 4 के अधीन कलक्टर की यह राय है कि यदि कोई व्यक्ति किसी लोक परिसर का अप्राधिकृत अधिभोग रखता है और उसे बेदखल किया जाना है तो वह लिखित रूप में एक नोटिस जारी करेगा जिसमें ऐसे व्यक्ति से यह अपेक्षा की गई हो कि वह इस बात का हेतुक दर्शित करे कि उसके विरुद्ध बेदखली का आदेश क्यों पारित न किया जाए। इस प्रकार कलक्टर के पास नोटिस जारी करने के सिवाय कोई भी अनुकल्प नहीं है। किन्तु ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किए गए हेतुक तथा साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् और उसे सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर देने के पश्चात् वह बेदखली का आदेश दे सकता है। इसलिए यदि उसकी यह राय है कि यह मामला ऐसा मामला है जहां कि वाद अधिक समुचित उपचार होगा क्योंकि मामले की परिस्थितियां ऐसी हैं या उसकी प्रकृति बहुत जटिल है तो यह हो सकता है कि वह बेदखली का आदेश न दे। ऐसी दशा में वाद लाने का कार्य सरकार द्वारा किया जाएगा। यह काम कलक्टर का नहीं है। कलक्टर को ऐसा कोई विवेकाधिकार प्राप्त नहीं है कि वह कोई वाद फाइल करे या अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां करे।

और न ही सरकार कलक्टर को यह आदेश दे सकती है कि वह धारा 5 के अधीन प्रत्येक मामले में बेदखली का आदेश दे। क्योंकि इस धारा के अधीन शक्ति कलक्टर की कानूनी शक्ति है। इस प्रकार बहुमत के निर्णय में, धारा 4 के अधीन सूचना की लाजिमी प्रकृति की उपेक्षा किए जाने के कारण और धारा 5 के अधीन विवेकाधिकार की शक्ति को ध्यान में रखते हुए जिसका प्रयोग पक्षकार की सुनवाई करने के पश्चात् करना होता है, यह गलती थी कि उसमें केवल धारा 5 के आधार पर कार्यवाही की गई थी और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उसके द्वारा कलक्टर को यह मनमानी शक्ति प्रदत्त की गई है कि वह कुछ व्यक्तियों की दशा में अधिनियम के अधीन शक्ति का आश्रय ले और अन्य व्यक्तियों की दशा में वाद ला कर कार्यवाही करे।

17. यहां इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि विचाराधीन दोनों अधिनियमों द्वारा अधिकथित प्रक्रियाएं इतनी कठोर अथवा कष्टप्रद नहीं हैं कि उनसे यह सुझाव मिल सके कि यदि कुल मामलों में इन दोनों अधिनियमों के उपबन्धों का आश्रय लिया जाता है और अन्य मामलों में साधारण सिविल न्यायालय का आश्रय लिया जाता है तो इससे विभेद होगा। यद्यपि इन प्रश्नों का विनिश्चय करने वाले अधिकारी प्रशासनिक अधिकारी होंगे, इन अधिनियमों में इस बात का उपबन्ध है कि प्रभावित पक्षकार को ऐसा नोटिस दिया जाए जिसमें उसे उन आधारों से अवगत कराया गया हो जिन पर कि बेदखली का आदेश दिए जाने की प्रस्थापना है जिससे कि प्रभावित पक्षकार लिखित कथन फाइल कर सके और दस्तावेज प्रस्तुत कर सके और उसका प्रतिनिधित्व वकीलों द्वारा किया जा सके। लोगों को समन करने तथा उन्हें हाजिर कराने सम्बन्धी तथा उनकी शपथ पर परीक्षा करने सम्बन्धी सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबन्ध एवं दस्तावेजों की प्राप्ति तथा उनके पेश किए जाने की अपेक्षा सम्बन्धी उपबन्ध प्रभावित व्यक्ति के लिए मूल्यवान् रक्षोपाय हैं। इसी प्रकार मुम्बई शहर में सिटी सिविल न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के समक्ष अपील करने सम्बन्धी उपबन्ध अथवा जिलों में जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील करने सम्बन्धी उपबन्ध जिसे कि मामले का यथासम्भव शीघ्र निपटारा करना होता है पर्याप्त रक्षोपाय है। यह बात सूरज मल मेहता वाले मामले में स्वीकार की गई थी। मामूली सिविल न्यायालय तथा इन अधिनियमों के अधीन कार्यपालक प्राधिकारियों के समक्ष प्रक्रिया के बीच मुख्य भेद यह है कि एक मामले में तो उसका विनिश्चय विधि के क्षेत्र में प्रशिक्षित न्यायिक अधिकारी द्वारा किया जाएगा और यह भी हो सकता है कि वहां एक से अधिक अपील की जाने की व्यवस्था हो। दूसरी ओर अन्य मामले में केवल एक ही अपील की व्यवस्था है। किन्तु व्यथित पक्षकार इस बात के लिए भी स्वतन्त्र है कि वह संविधान के अनुच्छेद 226 एवं 227 के

उपबन्धों के अधीन उच्च न्यायालय का आश्रय ले। यह उस उपबन्ध की अपेक्षा कोई कम प्रभावी नहीं है जिसमें कि द्वितीय अपील की व्यवस्था की गई है। यदि सम्पूर्ण दृष्टि से देखा जाए तो जिस उद्देश्य के साथ यह विशेष प्रक्रिया विधान-मण्डल द्वारा अधिनियमित की गई थी उसे देखते हुए हम यह अभिनिर्धारित करने के लिए तैयार नहीं हैं कि इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच भेद इतना क्रूर है कि उसमें विभेद का दोष लागू होता है। अनुच्छेद 14 में किसी संकीर्ण दृष्टिकोण की अपेक्षा तो नहीं की गई है। इसलिए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि न तो बाम्बे म्यूनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट के अध्याय 5-ए के उपबन्धों और न बाम्बे गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज़ (एविक्शन) ऐक्ट, 1955 के उपबन्धों को ही संविधान का अनुच्छेद 14 लागू होता है।

18. परिणामस्वरूप सभी रिट पिटीशन खारिज किए जाते हैं। पिटीशनर केवल इसी न्यायालय में अपने खर्चों का संदाय करेंगे। अपीलें खण्ड न्यायपीठ के समक्ष निपटाए जाने के लिए रख दी जाएंगी।

न्यायाधिपति भगवती—

इन अपीलों तथा रिट पिटीशनों में बाम्बे म्यूनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट, 1888 (जिसे इसमें इसके पश्चात् म्यूनिसिपल ऐक्ट कहा गया है) के अध्याय 5-ए तथा बाम्बे गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज़ (एविक्शन) ऐक्ट, 1955 (जिसे इसमें इसके पश्चात् गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज एविक्शन ऐक्ट कहा गया है), जैसा कि वह 1969 के महाराष्ट्र अधिनियम संख्या 12 द्वारा संशोधन से पूर्व विद्यमान था, की सांविधानिक विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप किया गया था कि वे संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करते हैं। यह आक्षेप मुख्य रूप से नार्दर्न इण्डिया केटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय पर आधारित है जहां कि इस न्यायालय ने पंजाब पब्लिक प्रेमिसेज़ एण्ड लैण्ड (एविक्शन) एण्ड रेण्ट कन्ट्रोल ऐक्ट, 1959 की धारा 5 को इस कारण विधिशून्य अभिनिर्धारित किया था कि वह संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुकूल नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या इस विनिश्चय का आधार म्यूनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए तथा गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज़ (एविक्शन) ऐक्ट में अन्तर्विष्ट उपबन्धों को लागू होता है और यदि ऐसा है तो क्या इस विनिश्चय पर हमारे द्वारा पुनः विचार किया जाना अपेक्षित है?

20. म्यूनिसिपल ऐक्ट एक पुराना परिनियम है जिसका अधिनियम मुम्बई नगर के नगरपालिका प्रशासन के लिए उपबन्ध करने के प्रयोजन

---

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 399.

के लिए किया गया था। अध्याय 5-ए को 1961 के महाराष्ट्र अधिनियम संख्या 14 द्वारा म्यूनिसिपल ऐक्ट में पुर: स्थापित किया गया था। इसके अन्तर्गत कतिपय धाराएं हैं जो 105 से आरम्भ होती हैं और 105-एच पर समाप्त होती हैं। धारा 105-ए परिभाषा खण्ड है जिसमें अध्याय 5-ए में प्रयुक्त विभिन्न पदों की परिभाषाएं दी गई हैं और इन पदों में से एक पद 'अनधिकृत अधिभोग' (अनआथोराइज्ड आकूपेशन) है जिसे खण्ड (डी) द्वारा इस रूप में परिभाषित किया गया है कि उससे किसी व्यक्ति द्वारा नगर-निगम परिसर ऐसे अधिभोग के लिए प्राधिकार के बिना अधिभोग अभिप्रेत है और इसके अन्तर्गत किसी व्यक्ति द्वारा जिस प्राधिकार के अधीन उसे परिसर का अधिभोग करने की इजाजत दी गई थी अधिभोग समाप्त हो जाने या उसके सम्यक् रूप से समाप्त कर दिए जाने के पश्चात् अधिभोग में बना रहना भी आता है। धारा 105-बी की उपधारा (1) में अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबन्ध किया गया है—

* "105-बी (1) जहां कि आयुक्त का समाधान हो जाता है—

(क) कि नगर-निगम परिसर का अधिभोग रखने के लिए प्राधिकृत व्यक्ति ने, बाम्बे म्यूनिसिपल कारपोरेशन (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1960 के प्रारम्भ होने से पूर्व अथवा उसके पश्चात्—

(i) दो मास से अधिक कालावधि के लिए उस भाटक या करों का संदाय नहीं किया है जो कि ऐसे परिसर की बाबत उससे विधिपूर्वक शोध्य है, अथवा

(ii) अपने अधिभोग की शर्तों के निबन्धनों के प्रतिकूल ऐसे परिसर के समस्त या किसी भाग को उप-पट्टे पर दे दिया है, अथवा

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"105 B. (1) Where the Commissioner is satisfied—

(a) that the person authorised to occupy any corporation premises has, whether before or after the commencement of the Bombay Municipal Corporation (Amendment) Act, 1960,

(i) not paid for a period of more than two months, the rent or taxes lawfully due from him in respect of such premises; or

(ii) sub-let, contrary to the terms or conditions of his occupation, the whole or any part of such premises; or

(iii) अवक्षय के ऐसे कार्य किए हैं या कर रहा है जिनसे यह सम्भाव्य है कि उस परिसर का मूल्य सारवान् रूप से कम हो जाएगा या उसकी उपयोगिता में सारवान् रूप से नुकसान पहुंचे हों; अथवा

(iv) अन्यथा ऐसे निबन्धनों, चाहे वे अभिव्यक्त हों या विवक्षित, उल्लंघन में कार्य किया है जिनके अधीन वह ऐसे परिसर पर अधिभोग रखने के लिए प्राधिकृत है;

(ख) कि कोई व्यक्ति किसी नगर-निगम परिसर पर अनधिकृत अधिभोग रखता है;

(ग) कि किसी व्यक्ति के अधिभोग में रहने वाले किसी नगर-निगम परिसर की नगर-निगम द्वारा सार्वजनिक हित में अपेक्षा गई है;

तो आयुक्त तत्समय प्रवृत्त किसी विधि में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी नोटिस द्वारा यह आदेश दे सकेगा कि वह व्यक्ति तथा कोई ऐसा अन्य व्यक्ति जो कि समस्त परिसर या उसके किसी भाग पर अधिभोग रखता हो उसे नोटिस की तामील की तारीख के एक मास के भीतर खाली की कर देगा।"

(iii) committed, or is committing, such acts of waste as are likely to diminish materially the value, or impair substantially the utility of the premises; or

(iv) otherwise acted in contravention of any of the terms, express or implied, under which he is authorised to occupy such premises;

(b) that any person is in unauthorised occupation of any corporation premises;

(c) that any corporation premises in the occupation of any person are required by the corporation in the public interest,

the Commission may notwithstanding anything contained in any law for the time being force, by notice......order that that person, as well as any other person who may be in occupation of the whole or any part of the premises, shall vacate them within one month of the date of the service of the notice."

किन्तु इससे पूर्व कि धारा 105-बी की उपधारा (i) के अधीन किसी व्यक्ति के विरुद्ध नगर आयुक्त द्वारा आदेश दिया जा सके, उक्त धारा की उपधारा (2) में यह कहा गया है कि नगर-निगम आयुक्त लिखित रूप में ऐसी सूचना जारी करेगा जिसमें सभी सम्बद्ध व्यक्तियों से इस बात का हेतुक दर्शित करने की अपेक्षा की गई हो कि भला बेदखली का आदेश क्यों न दिया जाए। इस सूचना के बारे में यह अपेक्षा की गई कि उसमें उन आधारों को विनिर्दिष्ट किया जाए जिन पर कि बेदखली का आदेश दिया जाना प्रस्थापित है और इसका आशय यह है कि सभी व्यक्तियों को, जो कि नगर-निगम परिसर में अधिभोग रखते हैं या रख सकते हों या उसमें वित्त का दावा करते हों, इस बात का अवसर दिया जाए कि वे बेदखली के प्रस्थापित आदेश के विरुद्ध हेतुक दर्शित करें। तत्पश्चात् धारा 105-बी की उपधारा (2) में आगे यह कहा गया है कि सम्बद्ध व्यक्ति अपने मामले के समर्थन में लिखित कथन फाइल कर सकता है और दस्तावेज़ पेश कर सकता है और नगरपालिक आयुक्त के समक्ष जांच में वह अधिवक्ता, अटर्नी या प्लीडर की मार्फत हाजिर होने के लिए हकदार है। इस प्रक्रिया का आशय यह है कि 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' (आडी आलटरम पारटम) वाली अभ्युक्ति में समाविष्ट नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त को कार्यान्वित किया जाए और यह उचित भी है क्योंकि नगरपालिक आयुक्त को इस बात का अवधारण करने को शक्ति दी गई है कि क्या कोई व्यक्ति उपधारा (1) के खण्ड (ए) या (बी) या खण्ड (सी) के अधीन किसी नगर-निगम परिसर में से बेदखल किए जाने के दायित्वाधीन है और इससे पूर्व कि उसके विरुद्ध कोई निर्णय लिया जाए जिसका कि उक्त परिसर को धारण करने के सम्बन्ध में उसके अधिकार पर प्रभाव पड़ता हो, उसे सुने जाने का युक्तियुक्त अवसर अवश्य दिया जाना चाहिए। यदि सम्बद्ध व्यक्ति की सुनवाई करने के पश्चात् नगरपालिक आयुक्त का समाधान हो जाता है कि मामला खण्ड (ए), खण्ड (बी) या खण्ड (सी) के अन्तर्गत आता है और ऐसा इन तीन खण्डों में से किसी एक खण्ड के अधीन बेदखल किए जाने के दायित्वाधीन है तो वह सूचना द्वारा ऐसे व्यक्ति को यह आदेश दे सकता है कि वह नगर-निगम परिसर को सूचना की तामील की तारीख से एक मास के भीतर खाली कर दे। यदि नगर-निगम परिसर को खाली करने के लिए आदिष्ट व्यक्ति बेदखली के आदेश का पालन नहीं करता है तो नगरपालिक आयुक्त धारा 105 की उपधारा (3) के अधीन उस व्यक्ति को बेदखल कर सकता है और किसी ऐसे अन्य व्यक्ति को भी जो उसके मार्ग में बाधा डालता है और नगर-निगम परिसर को, यदि आवश्यक हो तो, बल का प्रयोग करके कब्ज़े में ले सकता है। धारा 105-बी की उपधारा (6) में यह उपबन्ध है कि यदि कोई व्यक्ति जिसे उपधारा (1) के खण्ड (ए) के उपखण्ड (i) या उपखण्ड (iv)

के अधीन यह आदेश दिया गया हो कि वह किसी नगर-निगम परिसर को खाली कर दे, सूचना की तामील की तारीख से एक मास के भीतर अथवा ऐसी अधिक लम्बी कालावधि के भीतर, जो कि नगरपालिक आयुक्त अनुज्ञात करे, नगरपालिक आयुक्त को यथास्थिति बकाया भाटक यथा करों का भुगतान कर देता है अथवा उसके द्वारा जिन निबन्धनों का उल्लंघन किया गया है उनका नगरपालिक आयुक्त के समाधान पर्यन्त कार्यान्वित करता है या अन्यथा पालन करता है तो नगरपालिक आयुक्त ऐसे निबन्धनों पर, जैसे वह उचित समझे ऐसे व्यक्ति को उपधारा (2) के अधीन बेदखल करने की बजाय, उपधारा (1) के अधीन अपने द्वारा दिए गए आदेश को रद्द कर देगा और तत्पश्चात् ऐसा व्यक्ति नगर-निगम परिसर को उन्हीं शर्तों पर धारण करता रहेगा जैसे कि वह पहले कर रहा था। तत्पश्चात् धारा 105-सी आती है जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ नगरपालिक आयुक्त को यह शक्ति प्रदत्त की गई है कि वह ऐसे मामलों में जिनमें कि किसी व्यक्ति के बारे में यह देखा गया हो कि वह उन पर अनधिकृत रूप में अधिभोग रखता है, उपयोग एवं अधिभोग लेखे नुकसानी का निर्धारण कर सके। मारे प्रयोजन के लिए धारा 105-डी महत्वपूर्ण है और हम इस पर विचार नहीं करेंगे। धारा 105-बी अगले भाग में है और उसमें यह कहा गया है कि नगरपालिक आयुक्त, अधिनियम के अधीन किसी जांच को करने के प्रयोजन के लिए वही शक्तियां रखेगा जो कि सिविल न्यायालय में सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन उस समय निहित होती हैं जब वह निम्नलिखित की बाबत अर्थात्—(क) किसी व्यक्ति को समन करता है और उसे हाजिर कराता है और उसकी शपथ पर परीक्षा करता है; (ख) दस्तावेजों के प्रकटीकरण तथा प्रस्तुत किए जाने की अपेक्षा करने, तथा (ग) किसी अन्य मामलों में जो कि धारा 105-एच के अधीन बनाए गए विनियमों द्वारा विहित किया जाए, वाद का विचारण करता है। इस धारा में स्पष्ट रूप से यह अनुध्यात है नगरपालिक आयुक्त जांच करते समय दस्तावेजों के पेश किए जाने और उनके प्रकटीकरण की जांच कर सकता है और उसके सार की भी परीक्षा कर सकता है। नगरपालिक आयुक्त का धारा 105-बी या धारा 105-सी के अधीन प्रत्येक आदेश धारा 105-एफ के अधीन अपील किए जाने योग्य है और अपील मुंबई सिविल न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के समक्ष अथवा बृहत्तर मुम्बई के अन्य ऐसे न्यायिक अधिकारी के समक्ष जो कि प्रधान न्यायाधीश के रूप में अन्यून दस वर्ष का अनुभव रखता हो और जिसे उन निमित्त पदाभिहित किया जाए, की जा सकेगी। अपील अधिकारी को यह शक्ति दी गई है कि वह नगरपालिक आयुक्त के आदेश के प्रवर्तन को ऐसी कालावधि के लिए और ऐसी शर्तों पर जो वह उचित समझे रोक सके जिस पर कि अपील में आक्षेप किया

गया हो और अपील द्वारा नगर आयुक्त अथवा अपील अधिकारी द्वारा दिये गये आदेश को अन्तिम रूप दिया जाएगा और उसमें यह भी उपबन्ध किया गया है कि उसे किसी मूल वाद, आवेदन या निष्पादन कार्यवाहियों में प्रश्नगत नहीं किया जाएगा। अन्त में धारा 105-एच आती है जो कि स्थायी समिति के अनुमोदन के साथ नगरपालिक आयुक्त को यह शक्ति प्रदत्त करती है कि वह उस धारा में दिए गए विषयों में से सभी या किन्हीं विषयों की बाबत विनियम बना सके जिनके अन्तर्गत अन्य बातों के साथ-साथ जांच कराना और ऐसे सिद्धान्त आते हैं जिन पर कि धारा 105-सी के अधीन नुकसानी का निर्धारण करने में विचार किया जा सकता है और वह प्रक्रिया भी आती है जिसका धारा 105-एफ के अधीन की गई अपीलों में अनुसरण किया जा सकता है। इस प्रकार यह उल्लेखनीय है कि इन धाराओं में किसी व्यक्ति को नगर-निगम परिसर में से धारा 105 बी की उपधारा 1 के खण्ड (ए), (बी) या (सी) में दिए गए आधारों में से किसी भी आधार पर बेदखल किया जा सकता है।

21. गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट में सरकारी परिसर में से किसी व्यक्ति को बेदखल करने के लिए विशेष प्रक्रिया अधिकथित की गई है जो कि म्यूनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में दी गई प्रक्रिया के साथ मिलती-जुलती है। फर्क केवल इतना है कि जब कि म्यूनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए के अधीन दायित्व का अवधारण करने तथा बेदखली का आदेश देने की शक्ति नगरपालिक आयुक्त को दी गई है जो कि ऐसा सरकारी प्राधिकारी है जो राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किए गए उप-आयुक्त अथवा कार्यपालक इन्जीनियर के रैंक से निचले रैंक का अधिकारी नहीं होगा। म्यूनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए के उपबन्धों तथा गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट के उपबन्धों के बीच एक और भी फर्क है और वह इस कारण उत्पन्न होता है कि धारा 8-ए गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट में एक ऐसे संशोधन द्वारा पुरःस्थापित की गई है जो कि 1969 के महाराष्ट्र अधिनियम संख्या 12 द्वारा किया गया था जब कि म्यूनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया गया है। यह संशोधन गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट में नार्दर्न इण्डिया केटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य में इस न्यायालय के विनिश्चय के परिणामस्वरूप किया गया था किन्तु यह बात महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि जहां तक गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट के अधीन आने वाले वर्तमान मामलों का सम्बन्ध है, बेदखली के लिए कार्यवाहियां तथा बेदखली का आदेश धारा 8-ए के गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट में धारा 8-ए के पुरःस्थापित किए जाने से पूर्व दिया गया था और गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट के उपबन्ध जिनसे कि हमारा

सम्बन्ध है, ऐसे उपबन्ध हैं जैसे कि वे धारा 8-ए के पुरःस्थापित किये जाने से उनके संशोधन होने से पूर्व विद्यमान थे ।

22 इन मामलों में आक्षेपकृत दोनों परिनियमों के सुसंगत उपबन्धों का वर्णन करने के पश्चात् अब हम उन आधारों की जांच करेंगे जिन पर कि उन्हें चुनौती दी गई है । किन्तु ऐसा करने से पूर्व हम यह संकेत करते हुये स्थिति को स्पष्ट करते हैं और प्रत्यर्थियों की ओर से दी गई दलील के सन्दर्भ में यह महत्वपूर्ण भी है जिसकी परीक्षा करने का हमें बाद में अवसर मिलेगा कि बेदखली के दायित्व का अवधारण करने के लिये विशेष प्रक्रिया तथा दोनों परिनियमों में अधिकथित इस प्रकार बेदखल किये जाने के लिये दायित्वाधीन पाये गये व्यक्तियों की बेदखली प्राप्त करने के लिये विशेष प्रक्रिया पर हमारे समक्ष इस आधार पर आक्षेप नहीं किया गया है कि वह अयुक्तियुक्त है और अनुच्छेद 19 (1) (च) के अधीन सम्पत्ति धारण करने के गारण्टीकृत मूल अधिकार पर अन्यायोचित निर्बन्धन लगाता है । हमारे सामने इस प्रकार की एक धुंधली सी दलील यह दी गई थी कि इन दोनों परिनियमों के आक्षेपकृत उपबन्ध नगरपालिक या सरकारी परिसरों के अधिभोगियों की बेदखली के लिये विशेष प्रक्रिया का उपबन्ध करके अन्य परिसर के अधिभोगियों के बीच अन्यायोचित विभेद करते हैं और वे इस कारण संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करते हैं । किन्तु इस आक्षेप में कोई सार नहीं है । इस प्रकार का विधान मिलना एक असाधारण बात नहीं है जिसमें कि सरकारी या अन्य सार्वजनिक निकायों को विशेष व्यवहार दिया गया हो और ऐसे विधान को अनेक विनिश्चित मामलों में इस न्यायालय द्वारा कायम रखा गया था । न्यायाधिपति बछावत ने **नार्दर्न इण्डिया केटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य**[1] में अपने अल्पसंख्यक निर्णय में ऐसे कई विनिश्चयों का हवाला दिया है और इसके अलावा और भी विनिश्चय हैं । यहां हम उनमें से कुछ का जिक्र करेंगे जैसे कि **बाबूराव शान्ताराम मोर बनाम बाम्बे हाउसिंग बोर्ड और एक अन्य**[2] वाला विनिश्चय जिसके द्वारा सरकार या अन्य स्थानीय प्राधिकारी के परिसरों को बाम्बे रेण्ट्स होटल एण्ड लाजिंग हाउस रेट्स कन्ट्रोल ऐक्ट, 1947 के उपबन्धों से छूट दी गई थी । श्री **मुन्नालाल और एक अन्य बनाम कलक्टर ऑफ झालावाड़ और अन्य**[3] वाले विनिश्चय में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि राजस्थान पब्लिक डिमाण्ड्स रिकवरी ऐक्ट, 1952 असांविधानिक नहीं था क्योंकि उसके द्वारा सरकार के शोध्यों की वसूली के लिए बैंककार के

---

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 399.

[2] (1954) एस० सी० आर० 572.

[3] (1961) 2 एस० सी० आर० 962.

रूप में सरकार को कोई विशेष सुविधा नहीं दी गई थी। नव **रतनमल और अन्य बनाम राजस्थान राज्य**[1] वाले विनिश्चय में निश्चित किया गया था कि विधानमण्डल युक्तियुक्त रूप से सरकार द्वारा फाइल किए गए वादों में अधिक लम्बी कालावधि की परिसीमा के लिए उपबन्ध कर सकता है और **लच्छमण दास बनाम पंजाब राज्य और अन्य**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित कियाग या था कि पटियाला रिक्वरी आफ स्टेट ड्यूज ऐक्ट (2002 विक्रमी का संख्या 4) में विवादों के अवधारण के लिए पृथक प्राधिकारियों की स्थापना करके और उनके द्वारा अनुसरण की जाने वाली पटियाला स्टेट बैंक के शोध्यों की वसूली के लिए विशेष प्रक्रिया विहित करके कोई विभेद नहीं किया था और वह विधि-शून्य नहीं है। इन सभी विनिश्चयों में सरकारी या अन्य सार्वजनिक निकायों के सम्बन्ध में विशेष व्यवहार के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह विभेदात्मक नहीं है। किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता है। प्रत्येक ऐसी विधि जो सरकारी या अन्य सार्वजनिक निकायों के साथ भिन्न व्यवहार करती है, आवश्यक रूप से विभेद के आधार पर आक्षेप से उन्मुक्ति प्राप्त है। जब विभेद सरकार के पक्ष में या किसी अन्य सार्वजनिक निकाय के पक्ष में हो तो असांविधानिक विभेद के दोष से बचने के लिए कोई ताबीज या जादू नहीं है। अब यह विधि सुस्थिर हो चुकी है कि विधानमण्डल को विशेष उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विशेष विधियां अपनाने की शक्ति है और उस प्रयोजन के लिए वह व्यक्तियों और वस्तुओं में चुनाव कर सकती है या उनका वर्गीकरण कर सकती है जिनके आधार पर ऐसी विधियां प्रचलित होंगी। किन्तु वर्गीकरण का तथ्य मात्र किसी परिनियम को अनुच्छेद 14 में अन्तर्विष्ट सम्पदा खण्ड की परिधि से छूट देने के लिए पर्याप्त नहीं है। उसकी परिधि से बाहर निकलने के लिए यह प्रतीत होना आवश्यक है कि न केवल कोई वर्गीकरण किया गया है बल्कि यह किसी वास्तविक प्रभेद पर आधारित है जिसका कि विधानमण्डल के उद्देश्य के साथ न्यायोचित तथा युक्तियुक्त सम्बन्ध है और वह केवल मनमाना चुनाव नहीं है। विधिमान्य तथा अनुज्ञेय होने के लिए किसी वर्गीकरण के लिए यह आवश्यक है कि वह दो कसौटियों पर पूरा उतरे। एक तो वह बोधगम्य भेद पर आधारित होना चाहिए जो समान रूप से वर्गीकृत व्यक्तियों या वस्तुओं को अन्य व्यक्तियों या वस्तुओं से भिन्न करता हो और उस भेद का ऐसे उद्देश्य के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध होना चाहिए जिसे प्राप्त करने का परिनियम द्वारा प्रयत्न किया गया है। इस दोहरी कसौटी के लागू किए जाने के कारण ही उपर्युक्त विधि विनिश्चयों का विशेष उपबन्ध किया गया था उन्हें सांविधानिक

[4] (1962) 2 एस० सी० आर० 324.
[5] (1963) 2 एस० सी० आर० 359.

रूप से विधिमान्य अभिनिर्धारित किया गया था। किन्तु उसी दोहरी कसौटी के लागू किए जाने के परिणामस्वरूप राजस्थान जागीरदार्स डेट रिडक्शन ऐक्ट के प्रवर्तन से, जिसमें कि उन जागीरदारों के ऋणों को घटाने के लिए उपबन्ध किया गया है जिनकी जागीर भूमियां सरकार द्वारा ग्रहण कर ली गई थीं केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार या स्थानीय प्राधिकारी को शोध्य ऋणों से छूट को अविधिमान्य ठहराया गया था (देखिए—**राजस्थान राज्य बनाम मुकुन्द चन्द और अन्य**[1])। इस प्रकार यह देखा गया है कि जहां कोई परिनियम जो सरकारी या अन्य सार्वजनिक निकायों के साथ विशेष व्यवहार करता हो विभेद के आधार पर आक्षेपकृत किया जाता है वहां उस परिनियम की विधिमान्यता का निर्धारण इन दो कसौटियों को लागू करके करना होता है और इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम इन दोनों परिनियमों में अन्तर्विष्ट आक्षेपकृत उपबन्ध की विधिमान्यता का अवधारण करने में इन दोनों कसौटियों को ही लागू करें।

23. जहां तक म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए का सम्बन्ध है और हमने जो म्यूनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए की बाबत कहा है वह गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होगा जिसमें कि 'म्युनिसिपल प्रेमिसेज' शब्दों के स्थान पर 'गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज' शब्द अन्तः स्थापित किए जाने, इस अध्याय के पुरः स्थापित किए जाने के लिए उद्देश्यों तथा कारणों के कथन तथा उसमें अन्तर्विष्ट उपबन्धों से यह साफ उपदर्शित होता है कि इस अध्याय को इसलिए अधिनियमित किया गया था कि नगर-निगम के लिए नगरपालिक परिसरों में से अनधिकृत अधिभोगियों की बेदखली के लिए द्रुततर उपचार के लिए उपबन्ध किया जाए जब कि अन्यत्र सिविल वाद का साधारण उपचार उपलभ्य है जिसमें बहुत खर्च आता है और विम्लब हो सकता है जिससे कि नगर-निगम इस योग्य हो सके कि वह गन्दी बस्ती सम्बन्धी अपनी नीति को प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने, नगर-निगम सम्पदाओं के द्रुततर विकास को प्रभावी बनाने तथा अधिक वास सुविधा के लिए व्यवस्था करने में समर्थ हो सकती है। म्यूनिसिपल ऐक्ट का अध्याय 5-ए निस्सन्देह नगरपालिक परिसरों के अधिभोगियों और अन्य परिसरों के अधिभोगियों के बीच प्रभेद करता है किन्तु अधिभोगियों के दोनों वर्गों के बीच एक सामाजिक रूप से विधिमान्य तथा वैध रूप से बोधगम्य भेद विद्यमान है। जहां तक नगरपालिक परिसरों का सम्बन्ध है, जनता के लोग इस बात में अत्यधिक दिलचस्पी रखते हैं कि ऐसे परिसर अनधिकृत अधिभोग से द्रुत गति से तथा यथासम्भव शीघ्र मुक्त

[1] (1964) 6 एस० सी० आर० 903.

हो सकें जिससे कि नगर-निगम इस योग्य हो सके कि वह गन्दी बस्तियों को दूर करने वाली अपनी नीति को कार्यान्वित करने, नगरपालिक सम्पदाओं के द्रुत विकास को शीघ्रातिशीघ्र करने एवं अधिक वास-सुविधा की व्यवस्था करने में समर्थ हो सके जो कि ऐसी योजनाएं हैं जिनसे जनता को लाभ पहुंचता है अनधिकृत अधिभोगियों से कब्जे के द्रुत एवं शीघ्रातिशीघ्र प्रत्युद्धरण में सार्वजनिक हित का तत्व ऐसे परिसरों की दशा में नहीं होता है जो कि प्राइवेट पक्षकार के पास होते हैं। इसलिए नगर परिसरों में से अनधिकृत अधिभोगियों की बेदखली के लिए द्रुत व्यवस्था इस कारण न्यायोचित है कि यह जन हित में है कि सिविल वाद की विस्तृत प्रक्रिया की बजाय जिसमें कि व्यय एवं विलम्ब दोनों ही अन्तर्वलित हैं, द्रुततर प्रक्रिया के माध्यम से अनधिकृत अधिभोगियों से नगरपालिक परिसरों को द्रुत गति से एवं शीघ्रातिशीघ्र प्रत्युद्धृत किया जा सके। इस प्रकार नगरपालिक परिसरों के अधिभोगियों तथा अन्य परिसरों के अधिभोगियों के बीच प्रभेद का एक विधिमान्य आधार है और वर्गीकरण के आधार पर तथा विधान के उद्देश्य के बीच युक्तियुक्त सम्बन्ध एवं सामंजस्य विद्यमान है। इन परिस्थितियों में इन दोनों परिनियमों में आक्षेपकृत उपबन्धों की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता है कि वे सरकारी अथवा नगरपालिक परिसरों के अधिभोगियों तथा अन्य परिसरों के अधिभोगियों के बीच अन्यायोचित विभेद करता है।

24. किन्तु आपेक्षकृत उपबन्धों की विधिमान्यता के विरुद्ध आक्षेप का मुख्य आधार यह था यद्यपि सरकारी या नगरपालिक परिसरों के अधिभोगी प्राइवेटस्वामि-स्वाधीन सम्पत्तियों के अधिभोगियों के मुकाबले में अपने-आप में एक वर्ग गठित करते हैं और ऐसा वर्गीकरण इस आधार पर न्यायोचित है कि उन्हें लोक हित के भिन्न व्यवहार की आवश्यकता है, आक्षेपकृत उपबन्ध सरकारी या नगरपालिक परिसरों के अधिभोगियों के बीच परस्पर रूप से प्रभेद करते हैं और इसलिए वे समता खण्ड का उल्लंघन करते हैं। पिटीशनर अपीलार्थियों ने यह दलील दी कि आक्षेप-कृत उपबन्धों में अधिकथित बेदखली के लिए दायित्व का अवधारण करने के लिए विशेष प्रक्रिया सिविल वाद की मामूली प्रक्रिया से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल है और ये दोनों प्रक्रियाएं एक ही क्षेत्र में प्रवर्तित होती हैं क्योंकि आक्षेपकृत उपबन्धों में इस बारे में कोई मार्गदर्शन नहीं किया गया है कि कब किसी एक या दूसरी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा जिसके परिणामस्वरूप आक्षेपकृत उपबन्ध सरकारी या नगरपालिक परिसरों के अधिभोगियों के बीच इस रूप में विभेद की इजाजत देते हैं कि कुछ के साथ विशेष प्रक्रिया लागू की जा सकती है जब कि कुछ

अन्य व्यक्तियों के साथ मामूली प्रक्रिया लागू की जा सकती है। सरकारी या नगरपालिक परिसरों के अधिभोगी आक्षेपकृत उपबन्धों के अधीन तथा सिविलवाद की मामूली प्रक्रिया के अधीन आगे कार्यवाही कर सकते हैं और चूंकि प्राधिकारी को इस बारे में मार्गदर्शित करने के लिए कोई सिद्धान्त या नीति नहीं है कि विशेष प्रक्रिया को कब अपनाया जायेगा और क्या मामले पर मामूली प्रक्रिया के अधीन विचार किया जाना चाहिए। इसलिए प्राधिकारी इस बात के लिए स्वतन्त्र होगा कि वह सरकारी या नगरपालिक परिसरों के अधिभोगियों के बीच विभेदात्मक प्रवर्ण कर सके और वर्ण की यह आत्यन्तिक तथा मार्गहीन शक्ति, यद्यपि उसका प्रयोग सरकारी या नगरपालिक परिसरों के अधिभोगियों के वर्ग के भीतर किया जा सकता है, विभेदात्मक है। यह दलील दी गई कि विभेद के शेष के अन्तर्गत व्यक्तियों के एक वर्ग में अर्थात् सरकारी या नगरपालिक अधिभोगियों के वर्ग में एकल रूप में व्यवहार करने की मार्गहीन तथा अनिर्बन्धित शक्ति आती है जिनमें से कि सभी समान रूप से स्थित हों और उनकी परिस्थितियाँ भी समान हों और जहां अन्य व्यक्तियों को मामूली प्रक्रिया के अनुसार बर्ताव किए जाने के लिए छोड़ दिया जाता हो। **नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स लिमिटेड** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में बहुमत का विनिश्चय प्रस्तुत मामले को लागू नहीं होता है और चाहे जो भी हो हमारी यह राय है कि वह विनिश्चय उचित विधि के रूप में नहीं है।

25. **नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स लिमिटेड** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के समय जो परिनियम विचारार्थ आया था वह पंजाब पब्लिक प्रेमिसेज एण्ड लैण्ड (एविक्शन एण्ड रेण्ट रिकवरी) ऐक्ट, 1959 था। इस अधिनियम में लोक परिसरों से अनधिकृत अधिभोगियों की बेदखली के लिए एक विशेष प्रक्रिया अधिकथित की गई थी। इस विशेष प्रक्रिया के अधिनियमित किए जाने की सांविधानिक विधिमान्यता पर इस न्यायालय में यह कह कर आक्षेप किया गया था कि वह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है। आक्षेप दो आधारों पर किया गया था — एक तो यह कि अधिनियम द्वारा दो परिसरों के अधिभोगियों तथा प्राइवेट सम्पत्ति के अधिभोगियों के बीच अन्यायोचित रूप से विभेद किया गया था और दूसरा यह था कि स्वयं लोक परिसरों के अधिभोगियों के बीच विभेद के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध विद्यमान है। यह दूसरा आधार था जिसके परिणामस्वरूप विद्वान् न्यायाधीशों के बीच मतभेद पैदा हुआ था और जहां बहुमत ने न्यायाधिपति शेलत की मार्फत निर्णय देते हुए और यह मत अपनाया था कि वह आधार सुआधारित था जब कि अल्पसंख्यक मत में न्यायाधिपति बछावत ने निर्णय देते हुए यह

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 399.
[2] (1952) एस० सी० आर० 284.

अभिनिर्धारित किया था कि ऐसा नहीं था। न्यायाधिपति शैलत ने अल्पसंख्यक निर्णय देते हुए पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली[1], श्री मीनाक्षी मिल्स लिमिटेड, मदुराई बनाम ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री,[2] सूरजमल मेहता बनाम ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री[3] तथा बनारसी दास बनाम केन कमिश्नर, उत्तर प्रदेश[4] वाले मामलों में इस न्यायालय के पूर्वतर विनिश्चय का हवाला दिया था और यह मत व्यक्त किया था कि इन विनिश्चयों से जो सिद्धान्त उत्पन्न होता है वह यह है कि यदि दो प्रक्रियाएं उपलब्ध हों जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा अधिक कठोर हो और सम्बद्ध पक्षकार के लिए प्रतिकूल हो और उसे प्राधिकारी की मनमानी मर्जी से लागू किया जा सके तो इससे विभेद उत्पन्न होगा। तत्पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश ने यह कहा कि यदि देश की मामूली विधि और विशेष विधि में दो भिन्न तथा आनुकल्पिक प्रक्रियाओं के लिए उपबन्ध किया गया है जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रतिकूल है तो यदि यह बात बहुमत पर छोड़ दी जाती है कि वह कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध उस विधि का प्रयोग न करे तो इससे विभेद उत्पन्न हो जायेगा। जिस व्यक्ति के विरुद्ध अधिक कठोर प्रक्रिया के अधीन कार्यवाही की गई हो वह इस बारे में शिकायत करने के लिए विवश है कि उसके विरुद्ध अधिक कठोर प्रक्रिया का प्रयोग क्यों किया गया है और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध ऐसी प्रक्रिया का प्रयोग क्यों नहीं किया गया है। स्पष्ट है कि धारा 5 के अधीन प्रक्रिया सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन विद्यमान् प्रक्रिया के मुकाबले में अधिक कठोर तथा प्रतिकूल है क्योंकि वहां मुकदमा लड़ने वाला व्यक्ति किसी साधारण न्यायालय द्वारा विचारण का फायदा उठा सकता है जो कि देश की साधारण विधि की बाबत होती है और जहां अपील, पुनरीक्षण आदि का अधिकार होता है। जब कि उस व्यक्ति को ऐसे कोई अधिकार नहीं होते हैं जिसके विरुद्ध अधिनियम की धारा 5 के अधीन कार्यवाही की जाती है क्योंकि उसका मामला सरकार के किसी कार्यपालक प्राधिकारी द्वारा निपटाया जाएगा जिसका विनिश्चय ही स्वयं उसके समाधान पर निर्भर करता है हालांकि वह निस्सन्देह किसी अन्य कार्यपालक अधिकारी अर्थात् आयुक्त के समक्ष अपील के अध्यधीन होता है। इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता है कि धारा 5 वाद सम्बन्धी उपचार के अलावा एक अतिरिक्त उपचार प्रदत्त करती है और सरकार के लिए दो आनुकल्पिक उपचारों की व्यवस्था करके और यह बात कलक्टर के मार्गहीन विवेक पर छोड़ते हुए कि

---

[1] (1952) एस० सी० आर० 284.

[2] (1955) 1 एस० सी० आर० 787.

[3] (1955) 1 एस० सी० आर० 448.

[4] (1963) सप्लीमेण्ट 2 एस० सी० आर० 760.

वह इन में से किसी एक या दूसरी प्रक्रिया का अनुसरण करे और धारा 5 के अधीन विद्यमान् अधिक कठोर प्रक्रिया के लागू किए जाने के लिए सार्वजनिक सम्पत्तियों तथा परिसरों का अधिभोग रखने वालों में से कुछ को चुन सके वह धारा विभेद के आधार पर आक्षेप किए जाने के लिए तथा अनुच्छेद 14 का उल्लंघन किए जाने के लिए उपयुक्त हो गई है और इस बात को ध्यान में रखते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया कि अधिनियम की धारा 5 विधिशून्य है। न्यायाधिपति बछावत ने अपनी ओर से तथा न्यायाधिपति (जैसे कि वे तब थे) हिदायतुल्लाह की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 14 का उल्लंघन किए बिना कोई विधि मुकदमा लड़ने वाले किसी व्यक्ति को उसकी व्यथाओं के दूर किए जाने के लिए उपचारों, कार्यवाहियों तथा अधिकरणों के बारे में स्वच्छन्द चुनाव दे सकती है। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया था कि ऐसा दृष्टिकोण प्रकट करने का आशय नहीं है कि आक्षेपकृत अधिनियम के अधीन कार्यवाही अनुचित है या कष्ट-प्रद है। अनधिकृत अभियोगी को सुनवाई का पूरा अवसर दिया जाता है और वह इच्छानुसार साक्ष्य भी प्रस्तुत कर सकता है। उसे विधि का समान संरक्षण दिए जाने से इन्कार नहीं किया जाता है क्योंकि सरकार के पास यह अनुकल्प होता है कि वह या तो वाद लाकर या अधिनियम के अधीन उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है। आगे यह भी कहा गया था कि किसी अनधिकृत अधिभोगी को इस बात का सांविधानिक अधिकार नहीं होता है कि वह इस बात पर जोर दे सके कि सरकार के पास कार्यवाहियों का चुनाव करने का अधिकार होना चाहिए। वाद फाइल करने के लिए सरकार के अनुकल्प पर आधारित दलील अवास्तविक है क्योंकि व्यवहार में यह सम्भावना नहीं होती है कि सरकार किसी ऐसे मामले में, जहां कि वह अधिनियम के अधीन राहत की मांग कर सकती है, वाद फाइल करेगी। विद्वान् न्यायाधीश ने यह कह कर अपना निर्णय समाप्त किया था कि अनुच्छेद 14 में इस बात की अपेक्षा नहीं की गई है कि विधि के समक्ष सम्पदा की समस्या पर कड़ाई का दृष्टिकोण बरता जाए और उन्होंने अधिनियम की विधिमान्यता को कायम रखा था। हम बहुमत की युक्तियों को स्वीकार नहीं कर सकते हैं और न ही अल्पमत के विनिश्चयों को। दोनों प्रकार की युक्तियों में से किसी भी प्रकार की युक्तियों के बारे में हमारा समाधान नहीं हुआ है। इस समस्या के सम्बन्ध में हम शीघ्र ही अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करेंगे जो उस समय उठ खड़ी होती है जब विधानमण्डल द्वारा दो प्रकार की प्रक्रियाएं अधिकथित की जाती हैं जिनमें से एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक कठोर होती है और प्रश्न यह है कि क्या विधि के समक्ष समता के सांविधानिक समादेश का उल्लंघन होता है। किन्तु हम एक दलील प्रस्तुत करना

चाहते हैं और हमारे विचार में उस पर जितना भी बल दिया जाए थोड़ा है और वह यह कि अनुच्छेद 14 एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है जो कि हमारे प्रजातन्त्र का सार है और जो प्रकाश-स्तम्भ की भान्ति प्रज्जवलित है जो कि एक वर्गहीन समतावादी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के प्रति संकेत करता है जिसे अपने लिए बनाने का हमने उस समय वादा किया था जब हमने, जिस दिन अपना संविधान अपनाया उस भाग्यशाली दिन को किस्मत के साथ करार किया था। यदि हमें सम्पदा के इस महान् सिद्धान्त के मनमाने विचलन तथा उसके प्रभावहीन पालन के बीच चुनाव करना हो तो हम बिना किसी हिचकिचाहट के यह बेहतर समझेंगे कि पश्चादुक्त की अपेक्षा पूर्वोक्त के पक्ष में निर्णय लिया जाएगा। यदि हम किसी अध्युपाय में इस उच्च तथा महान सिद्धान्त को कुचल देते हैं जो कि जनसाधारण के लिए आशागर्भित है और जो समान रूप से ध्येय एवं उसका अनुसरण दोनों ही है तो हम संविधान द्वारा हमारे अन्दर जो विश्वास निहित किया गया है उसे तोड़ देंगे क्योंकि इतिहास से यह जाहिर होता है कि व्यावहारिकता तथा समीचीनता के नाम में उलयुक्त अतिचारों के कारण ही स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता धीरे-धीरे किन्तु गुप्त रूप से क्षीण होती है किन्तु हमें चाहिए कि हम समीचीनता एवं व्यावहारिक सुविधा के नाम में समीचीनता एवं समानता का भी वही हाल न होने दें।

26. पिटीशनर-अपीलार्थियों की ओर से लगाए गए आक्षेप का प्रत्यर्थियों ने प्रथम एवं प्रारम्भिक उत्तर यह दिया था कि वहां, जहां कि विधि किसी व्यक्ति को जो अनुतोष का हकदार हो, उपचारों का स्वतन्त्र चुनाव देती है, अनुच्छेद 14 के अधीन सांविधानिक गारण्टी का कोई उल्लंघन नहीं होता है भले ही उनमें से एक उपचार दूसरे उपचार की अपेक्षा अधिक कठोर एवं द्वेषपूर्ण हो। प्रत्यर्थियों ने **एरिजोना काप्पर कम्पनी** बनाम **हेम्मर**[1] में यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिए गए विनिश्चय का इस दलील के समर्थन में अवलम्ब लिया था। यहां यह उल्लेखनीय है कि **नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स लिमिटेड** बनाम **पंजाब राज्य**[2] में दिए गए अल्पमत विनिश्चय को भी **एरिजोना काप्पर कम्पनी** बनाम **हेम्मर**[1] के विनिश्चय से समर्थन मिलता है और उस विनिश्चय के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विधि द्वारा अनुच्छेद 14 का इस कारण उल्लंघन होता है कि वह किसी व्यथित पक्षकार को उसकी व्यथाओं के दूर किए जाने के लिए उपचारों एवं कार्यवाहियों के बारे में स्वच्छन्द चुनाव प्रदत्त करती है। हम विधि के इस मोटे तथा अनिर्बन्धित कथन को सही नहीं मान सकते हैं और यदि हम

[1] 63लायर्स. इडिशन 1058 = 250 यू० एस० 400.

[2] (1967) 3 एस० सी० आर० 399.

एरिजोना काप्पर कम्पनी बनाम हेम्मर में दिए गए विनिश्चय की ध्यानपूर्वक जांच करें तो हम यह देखेंगे कि उससे ऐसे किसी कथन को समर्थन प्राप्त नहीं होता है। निस्सन्देह यह सही है कि न्यायाधिपति पिटनी ने इस मामले में यह कहा था—"हमारे पूर्ववर्ती विनिश्चयों से यह भलीभान्ति स्थिर हो चुका है कि उपचारों का चुनाव एक ऐसा अनुकल्प है जो विधि द्वारा किसी कार्यवाही के हकदार व्यक्ति को प्राय: दिया जाता है और वहां आमतौर पर अनुकल्प का प्रयोग साधारणतया उसके अपने फायदे के लिए किया जाता है।" किन्तु इस मत को इस प्रश्न के संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिए जो कि उस मामले में विनिश्चय के लिए उत्पन्न हुआ था और यदि उसे इस प्रकार पढ़ा जाता है तो इससे यह स्पष्ट होगा कि न्यायाधिपति पिटनी के मत में उस समय, जब कि उन्होंने यह मत व्यक्त किया था यह था कि एक ही कार्य से उत्पन्न होने वाले अनुतोष के बारे में कई अधिकार विद्यमान् थे न कि कई उपचारों की विद्यमानता जो कि अनुतोष के किसी अधिकार को प्रवृत्त करने के लिए थीं। एरिजोना की विधियों के अधीन, अपने नियोजन के अनुक्रम में क्षति प्राप्त किसी कर्मचारी को उपचार के तीन रास्ते उपलभ्य थे जिनमें से वह किसी भी एक रास्ते का अपने मामले के तथ्यों के अनुसार अनुसरण कर सकता था, अर्थात् (1) सामान्य विधि का दायित्व जिसमें कि सहसेवक की प्रतिरक्षा नहीं थी और जिसमें अभिदायी उपेक्षा की प्रतिरक्षा एवं जोखिम ग्रहण करना ऐसे प्रश्न थे जो जूरी पर छोड़ दिए गए थे; (2) नियोजक के दायित्व सम्बन्धी विधि, जो कि खतरनाक व्यवसायों को लागू होती थी जहां कि क्षति या मृत्यु स्वयं उसकी अपनी उपेक्षा के कारण न हुई हो; और (3) अनिवार्य प्रतिकर विधि जो विशेष रूप से खतरनाक व्यवसायों को लागू होती थी जिससे कि वह नियोजक की ओर से किसी त्रुटि के बिना प्रतिकर वसूल कर सकता था। जो प्रश्न अवधारण के लिए उत्पन्न हुआ था वह यह था कि क्या इस पद्धति से नियोजकों को समान संरक्षा का प्रत्याख्यान होता है क्योंकि वह कर्मचारी को अनेक उपचारों में से स्वच्छन्द चुनाव प्रदत्त करती है। न्यायाधिपति पिटनी ने इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर नियोजक के विरुद्ध दिया था कि पूर्ववर्ती विनिश्चयों से यह सुस्थिर हो चुका है कि विधि द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को जो कार्यवाही करने का हकदार हो, विचार में चुनाव दिया जा सकता है। स्पष्ट है कि जहां नियोजक के अनुक्रम में पहुंचने वाली क्षति के लिए विभिन्न विधियों द्वारा दिए गए अनुतोष के भिन्न-भिन्न अधिकारों के बीच चुनाव के प्रति निर्देश किया गया था। कर्मचारी सामान्य विधि के अधीन अथवा कर्मचारियों के दायित्व सम्बन्धी विधि के अधीन अथवा अनिवार्य प्रतिकर की विधि के अधीन नुकसानी का दावा कर सकता था। वह इस बात का चुनाव कर सकता था कि वह नुकसानी के लिए दावा किस विधि के अधीन करेगा। इस

अधिकार को वह अपने मामले के तथ्यों पर निर्भर करते हुए प्रवर्तित कर सकता था। ऐसा नहीं है कि उसे विधि द्वारा उसे दिए गए किसी अधिकार को प्रवर्तित करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं प्राप्त थीं। यहां प्रस्तुत मामले में नगर-निगम अथवा सरकार को भिन्न-भिन्न विधियों द्वारा भिन्न-भिन्न अधिकार प्रदत्त किए गए हैं और नगर-निगम अथवा सरकार को इस बात का चुनाव है कि वह किसी एक या अन्य अधिकार को प्रवर्तित कर सके। नगर-निगम अथवा सरकार द्वारा प्रवर्तित किए जाने के लिए ईप्सित एकमात्र अधिकार वह अधिकार है जो कि देश की सामान्य विधि द्वारा दिए गए हक पर आधारित है और इसे अधिकार के प्रवर्तित किए जाने के लिए, जैसा कि पिटीशनर-अपीलार्थियों ने कहा है नगर-निगम अथवा सरकार को आनुकल्पिक प्रक्रियाएं उपलभ्य हैं। यह स्थिति उस स्थिति से भिन्न है जो कि **एरिजोना काप्पर कम्पनी बनाम हेम्मर वाले मामले**[1] में थी और इसलिए वह विनिश्चय वर्तमान मामले में बिल्कुल लागू नहीं होता है।

27. अब यह दलील देना अति विलम्बित है और असाधारण भी है कि अनुच्छेद 14 प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों में विभेद के बारे में प्रतिषेध नहीं करता है। प्रक्रिया सम्बन्धी नियम अनुच्छेद 14 की परिधि के अन्तर्गत ठीक उसी प्रकार आता है जैसे कि अधिष्ठायी विधि का कोई नियम और **स्टेट ऑफ वैस्ट बंगाल बनाम अनवर अली सरकार के मामले**[2] में न्यायाधिपति मुखर्जी के शब्दों में यह आवश्यक है कि सभी मुकदमा लड़ने वाले जो समान स्थिति में हों, इस योग्य हों कि वे अनुतोष के लिए तथा प्रतिरक्षा के लिए समान संरक्षा के साथ एवं विभेद के बिना एक ही प्रक्रिया गत अधिकारों का लाभ उठा सकें" (व्हीवर कृत कान्स्टीट्यूशनल लॉ का पृष्ठ 407 भी देखिए)। यदि किसी दायित्व के अवधारण तथा प्रवर्तित किए जाने के लिए दो आनुकल्पिक प्रक्रियाएं उपलभ्य हों जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा अधिक कठोर एवं अधिक द्वेषपूर्ण हो और विधान मण्डल द्वारा कोई मार्गदर्शक नीति अथवा सिद्धान्त इस बारे में अधिकथित न किया गया हो कि इन दोनों प्रक्रियाओं में से एक या दूसरी प्रक्रिया का कब अनुसरण किया जाएगा जिससे कि इन दोनों प्रक्रियाओं का अन्धाधुन्ध समान स्थिति में होने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध प्रयोग किया जा सके तो अधिक कठोर एवं द्वेषपूर्ण प्रक्रिया के लिए उपबन्ध करने वाली विधि समान संरक्षा खन्ड का उल्लंघन करेगी यह स्टेट आफ वैस्ट बंगाल बनाम अनवर अली सरकार वाले जाने-माने मामले में सन् 1952 में ही अधिकथित कर दिया गया था जिसका विनिश्चय सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा किया गया था सन् 1950 के वैस्ट बंगाल विनियम

[1] 1963 लायर्स इडिशन 1058-250 यू० एस० 400.

[2] (1952) एस० सी० आर० 284

संख्या 10 की धारा 5 (1) पर उस मामले में आक्षेप किया गया था और बहुमत के निर्णय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह धारा सर्वथा अविधिमान्य थी। अधिनियम की उद्देशिका में केवल यह कहा गया था कि कुछ अपराधों के शीघ्र विचारण के लिए उपबन्ध करना समीचीन है कि धारा 5 (1) विशेष न्यायालय को इसलिए सशक्त करती है कि वह ऐसे अपराधों या अपराधों के वर्गों या मामलों के वर्गों का विचारण कर सके जैसे कि राज्य सरकार साधारण या विशेष आदेश द्वारा लिखित रूप में निदेश दे। अधिकतर न्यायाधीशों ने यह मत अपनाया था कि अधिनियम द्वारा विशेष न्यायालय द्वारा विचारण के लिए अधिकथित प्रक्रिया उस प्रक्रिया से सारवान् रूप से भिन्न है जो कि दण्ड प्रक्रिया संहिता द्वारा साधारण तौर पर अपराधों के विचारण के लिए अधिकथित की गई है और अधिनियम में, अधिनियम के अधीन उपबन्धित विशेष प्रक्रिया के अधीन विचारण के लिए विशेष न्यायालय के प्रति निर्देश के लिए मामलों को चुनने में सरकार द्वारा विवेकाधिकार के प्रयोग का मार्गदर्शन करने के लिए कोई सिद्धान्त या नीति प्रकट नहीं की गई हैं। चुनाव करने के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त को उपदर्शित करने के लिए केवल इस बात का आश्रय लिया गया है कि अधिनियम की उद्देशिका में कतिपय अपराधों के द्रुततर विचारण के लिए प्रकट किया गया उद्देश्य क्या है ? किन्तु न्यायाधीशों ने बहुमत से इस दलील को यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि वह अत्यधिक अनिश्चित और अस्पष्ट है कि इसके द्वारा वर्गीकरण के लिए युक्तियुक्त आधार गठित नहीं होता है। न्यायाधिपति महाजन ने यह मत व्यक्त किया था कि 'अपराधों का द्रुततर विचारण' विधान के लिए कारण एवं हेतुक हो सकता है किन्तु वह अपराधों के वर्गीकरण अथवा मामलों के वर्गीकरण की कोटि में नहीं आता है। मेरी राय में यह इस पद के वास्तविक अर्थों में कोई वर्गीकरण नहीं है क्योंकि यह किन्हीं ऐसे लक्षणों पर आधारित नहीं है जो ऐसे व्यक्तियों या मामलों के लिए विशिष्ट हो जिन्हें अधिनियम द्वारा विहित विशेष प्रक्रिया के अधीन रखा जाना है। न्यायाधिपति मुखर्जी ने यह कहा था कि मेरी यह निश्चित राय है कि द्रुततर विचारण की आवश्यकता किए गए विभेद के लिए अत्यन्त अस्पष्ट, अनिश्चित एवं भ्रान्तिमान कसौटी है और वह युक्तियुक्त आधार गठित नहीं कर सकती। द्रुततर विचारण की आवश्यकता विधानमण्डल का उद्देश्य हो सकता है जो उसके विचाराधीन था अथवा वह अधिनियम बनाने के लिए अग्रसर हो सकता है। एक प्रकार से शीघ्र निपटाना सभी विधिक कार्यवाहियों में वांछनीय है। यह युक्तियुक्त वर्गीकरण नहीं है बल्कि मनमाना प्रवर्ग है। न्यायाधिपति फजलअली तथा चन्द्र शेखर अय्यर ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया था। तदनुसार न्यायाधीशों ने

बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 5 (1) राज्य सरकार को मनमाना एवं अनियन्त्रित विवेकाधिकार देता है कि वह किन्हीं ऐसे मामलों के बारे में यह निदेश दे सके कि उनका विचारण विशेष न्यायालय द्वारा किया जाए और इसलिए यह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करता है।

28. **पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार**[1] वाले मामले तथा **कठी रेनिंग रावत बनाम सौराष्ट्र राज्य**[2] वाले इस न्यायालय के मामले के बीच तुलना करना रुचिकर होगा। इन दोनों मामलों की सुनवाई एक साथ की गई थी किन्तु सौराष्ट्र वाला मामला इसलिए स्थगित कर दिया गया था कि राज्य सरकार को इस योग्य बनाया जा सके कि वह उन परिस्थितियों का स्पष्टीकरण करने के लिए शपथपत्र फाइल कर सके जिनके परिणामस्वरूप सौराष्ट्र स्टेट पब्लिक सेफ्टी (थर्ड अमेंडमेंट) आर्डिनेन्स, 1949 अधिनियमित किया गया था जिस पर कि उस मामले में आक्षेप किया गया था। तत्पश्चात् सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा सौराष्ट्र वाला मामला सुना गया जिसमें कि अनवर अली सरकार वाले मामले का विनिश्चय दिया था। सौराष्ट्र आर्डिनेन्स धारा 11 उन्हीं शब्दों में थी जिनमें कि वैस्ट बंगाल ऐक्ट की धारा 5 (1) थी। उस धारा की विधिमान्यता के विरुद्ध सांविधानिक उद्देश्य भी वही था अर्थात् सौराष्ट्र अध्यादेश में अधिकथित विशेष प्रक्रिया द्वारा विचारण किए जाने के लिए मामलों का निर्देश करने की शक्ति कार्यपालक सरकार के आत्यन्तिक तथा अनिर्बन्धित विवेकाधिकार पर छोड़ दी जाए और इसलिए वह धारा विभेदात्मक तथा विधिशून्य थी। किन्तु न्यायाधीशों ने बहुमत से इस बार जो विनिश्चय किया वह भिन्न था **अनवर अली सरकार वाले मामले**[1] में जो विनिश्चय दिया गया था उससे विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा विभेद बनाया गया जो कि उस मामले में बहुमत का विनिश्चय देने वाले न्यायाधीशों में शामिल थे। न्यायाधिपति फजल अली ने यह मत व्यक्त किया—"वैस्ट बंगाल ऐक्ट पर मुख्य आक्षेप यह था कि वह किसी कारण के बिना अथवा किसी युक्तियुक्त आधार के बिना विभेद अनुज्ञात करता था। अधिनियम के उद्देश्य के रूप में द्रुततर विचारण का वर्णन मात्र इस त्रुटि को दूर नहीं करता है क्योंकि इस अभिव्यक्ति से इस बात का अवधारण करने में कोई मदद नहीं मिलती है कि भला किन मामलों का द्रुततर विचारण किए जाने की अपेक्षा है। सौराष्ट्र अध्यादेश में निश्चित उद्देश्य का स्पष्ट वर्णन राज्य सरकार को वर्गीकरण का ठोस तथा युक्तियुक्त आधार प्रदत्त करता है जिससे कि अध्यादेश के उपबन्धों को

[1] (1952) एस० सी० आर० 284.

[2] (1952) एस० सी० आर० 435.

लागू किया जा सके और केवल ऐसे अपराधों या मामलों को चुना जा सके जिन का सार्वजनिक सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने तथा शान्ति एवं परिशान्ति कायम रखने पर प्रभाव पड़ता हो। इस प्रकार धारा 11 के अधीन राज्य सरकार से केवल यह प्रत्याशा की जाती है कि वह ऐसे अपराधों या अपराधों के वर्गों या मामलों के वर्गों को इस हेतु चुनेगी कि उनका विचारण विशेष प्रक्रिया के अनुसार विशेष न्यायालय में किया जाय जो कि सार्वजनिक सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने इत्यादि को प्रभावित करने के लिए परिकल्पित हों। न्यायाधिपति मुखर्जी ने भी अनवर अली सरकार वाले मामले[1] में दिए गए विनिश्चय के साथ ऐसे ही आधारों पर प्रभेद करने के पश्चात् यह कहा था—

"मेरी राय में यदि विधायी नीति स्पष्ट और निश्चित है और उस नीति को कार्यान्वित करने की प्रभावशील पद्धति के रूप में परिनियम द्वारा प्रशासकों के निकाय या अधिकारियों को इस बात का विवेकाधिकार सौंपा जाता है कि वे व्यक्तियों के कुछ वर्गों या समूहों को विधि को सोच-समझ कर लागू करें तो स्वयं परिनियम को यह कह कर रद्द नहीं किया जा सकता कि वह विभेदात्मक विधान है। ऐसे मामलों में कार्यपालक निकाय को दी गई शक्ति से उस पर ऐसा कर्तव्य अन्तर्वलित होता है कि वह विधान की विषयवस्तु को परिनियम में उपदर्शित उद्देश्य के अनुसार वर्गीकृत करे। ऐसी परिस्थितियों में शासकीय अभिकरणों को जो विवेकाधिकार प्रदत्त किया गया है वह मार्गहीन विवेकाधिकार नहीं है। इसका प्रयोग ऐसी नीति के अनुसार करना होता है जिसे कार्यान्वित करने के लिए विवेकाधिकार दिया जाता है और उसी उद्देश्य के सम्बन्ध में वर्गीकरण के औचित्य को कसौटी पर पूरा उतरना होगा। न्यायाधिपति दास ने भी यह कहा था कि सौराष्ट्र अध्यादेश की उद्देशिका में नीति का इस बारे में पर्याप्त संकेत विद्यमान् है जिससे कि कार्यपालक सरकार को अपराधों या अपराधों के वर्गों या मामलों के वर्गों का विशेष न्यायालय के प्रति निर्देश करने के लिए चुनाव किया जा सके और इसलिए सौराष्ट्र अधिनियम की धारा 11 राज्य सरकार को अनियन्त्रित तथा मार्गहीन शक्ति प्रदत्त नहीं करती है। न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा तदनुसार सौराष्ट्र अध्यादेश की धारा 11 विधिमान्य अभिनिर्धारित की गई थी।"

---

1 (1952) एस० सी० आर० 284.

29. यद्यपि **कठी रेनिंग रावत** बनाम **सौराष्ट्र राज्य**[1] में अल्पमत के निर्णय में यह मत व्यक्त किया गया था कि बहुमत का उस मामले में विनिश्चय उस स्थिति से पीछे हट गया है जो कि अनवर अली सरकार वाले पूर्ववर्ती मामले में बहुमत द्वारा प्रस्तुत की गई थी, न्यायाधीशों ने बहुमत से इस दलील का जोरदार रूप से खण्डन किया और यह कहा कि जिस सिद्धान्त के लागू किए जाने के परिणामस्वरूप वैस्ट बंगाल ऐक्ट की धारा 5(1) अविधिमान्य करदी गई थी उसी सिद्धान्त के आधार पर सौराष्ट्र अध्यादेश की धारा 11 को उनके द्वारा कायम रखा गया था। **अनवर अली सरकार वाले मामले**[2] तथा **कठी रेनिंग रावत वाले मामले**[1] में न्यायाधीशों ने बहुमत से जो सिद्धान्त लागू किया था वही सिद्धान्त था और मुख्य न्यायाधिपति पातंजलि शास्त्री ने **केदार नाथ बेजोरिया** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[3] में न्यायालय के बहुमत के निर्णय को सुनाते हुए उसे इन शब्दों में प्रस्तुत किया था—"× × यदि आक्षेपकृत विधान द्वारा उस नीति का संकेत मिलता है जिसके द्वारा उसे प्रोत्साहन मिला था और उस उद्देश्य का भी जिसे प्राप्त करने के लिए उसमें ईप्सा की गई है तो यह तथ्य मात्र कि विधान अपने-आप में उन व्यक्तियों या वस्तुओं का पूर्ण तथा सुनिश्चित वर्गीकरण नहीं करता है जिन्हें लागू किया जाना है बल्कि विधि के सीमित रूप से लागू किए जाने की बात अन्तर्निहित नीति एवं प्रकट किए गए उद्देश्य अथवा उपदर्शित मानक के अनुसार कार्यपालक प्राधिकारी द्वारा लागू किए जाने के लिए छोड़ देता है तो यह उसे मनमाना कह कर रद्द किए जाने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है और इसलिए वह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं करता है। ऐसे परिनियम की दशा में सैद्धान्तिक रूप से इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता है कि कार्यपालक सरकार को जो विवेकाधिकार सौंपा गया था वह इक्के-दुक्के मामलों या अपराधों, अपराधों के वर्गों या मामलों के वर्गों में चुनाव करता है। कारण यह कि किसी भी दशा में चुनाव करने का विवेकाधिकार मार्गदर्शन से युक्त है और वह नियन्त्रित विवेकाधिकार है, न कि आत्यन्तिक अथवा अनियन्त्रित अधिकार और उसे समान रूप से दूषित किया जा सकता है किन्तु जैसा कि कहा गया है यदि किसी विशेष मामले में यह दर्शित कर दिया जाता है कि विवेकाधिकार का प्रयोग मानक की उपेक्षा करते हुए अथवा विधानमण्डल की घोषित नीति तथा उद्देश्य के प्रतिकूल किया गया है तो ऐसा प्रयोग अनुच्छेद 14 के अधीन आक्षेपित किया जा सकता है और उसे बातिल किया जा सकता है और इसके अन्तर्गत कार्यपालक तथा विधायी दोनों प्रकार की कार्य-

1 (1952) एस० सी० आर० 435.
2 (1952) एस० सी० आर० 284.
3 (1954) एस० सी० आर० 30.

वाहियां शामिल हैं।" जिस कानूनी उपबन्ध पर इस मामले में आक्षेप किया गया था वह वैस्ट बंगाल क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट (स्पेशल कोर्ट्स) ऐक्ट, 1949 था। यह अधिनियम कुछ अपराधों के अधिक प्रभावी रूप से दण्डित किए जाने तथा उनके अधिक शीघ्रता से विचारित किए जाने के लिए उपबन्ध करने के लिए पारित किया गया था क्योंकि विधानमण्डल का यह विचार था कि कुछ ऐसे अपराधों के अधिक शीघ्र विचारण तथा अधिक प्रभावी रूप से दण्डित किए जाने के लिए उपबन्ध करना समीचीन था जो कि अधिनियम के साथ जोड़ी गई अनुसूची में उपवर्णित किए गए थे। धारा 4(1) प्रान्तीय सरकार को इसलिए प्राधिकृत करती है कि वह विचारण के लिए मामलों को अधिसूचना द्वारा विशेष न्यायाधीश को आबंटित कर सके तथा मामलों को एक विशेष न्यायाधीश से दूसरे न्यायाधीश के पास अन्तरित कर सके अथवा किसी मामले को विशेष न्यायाधीश की अधिकारिता से वापस भेज सके अथवा मामले के वर्णन में ऐसे उपान्तरण कर सके जो आवश्यक समझे जाएं। मुख्य न्यायाधिपति पातंजलि शास्त्री ने पूर्वोक्त सिद्धान्त को लागू किया था जो कि **अनवर अली सरकार वाले मामले**[1] तथा **कठी रेनिंग रावत वाले मामले**[2] में से निकाला गया था और उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया था कि अधिनियम की धारा 4(1) विधिमान्य थी और विशेष न्यायालय को इस बात की अधिकारिता प्राप्त थी कि वह अपीलार्थियों का विचारण करे और उन्हें सिद्धदोष करे। हो सकता है कि यह विनिश्चय देखने से पहले-पहल महत्वपूर्ण दिखाई न दे और ऐसा साधारण मामला जो कि **अनवर अली सरकार-वाले मामले**[1] अथवा **कठी रेनिंग रावत वाले मामले**[2] में दिए गए विनिर्णयों में से किसी एक के अन्तर्गत आने वाला हो। किन्तु थोड़ी सी संवीक्षा करने से यह पता चलेगा कि वह विभेद की दलील का पूर्ण उत्तर देता है जो कि **नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स लिमिटेड** बनाम **पंजाब राज्य**[3] में न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा स्वीकार की गई थी। मामले के उस विनिश्चय पर हम बाद में विचार करेंगे।

30. अब हम **सूरज मल मेहता** बनाम **ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री**[4] वाले विनिश्चय में इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय का हवाला देंगे। टैक्सेशन आन इन्कम (इनवैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1947 की धारा 5(4) की सांविधानिक

---

1 (1952) एस० सी० आर० 284.
2 (1952) एस० सी० आर० 435.
3 (1967) 3 एस० सी० आर० 399.
4 (1955) 1 एस० सी० आर० 448.

विधिमान्यता पर उस मामले में इस आधार पर आक्षेप किया गया था कि कर अपवंचन चाहे वह सारवान् हो या न हो इसकी परिधि के अन्तर्गत आता है और साथ-ही-साथ भारतीय आयकर अधिनियम की धारा 34 की परिधि के अन्तर्गत आता है और इसलिए वह अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करता है। इस न्यायालय ने इस अधिनियम की धारा 5(4) के उपबन्धों की भारतीय आयकर अधिनियम की धारा 34(1) के उपबन्धों के साथ तुलना की थी और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि धारा 5(4) उन्हीं लोगों की बाबत है जो कि भारतीय आयकर अधिनियम की धारा 34 के भीतर आते हैं और जिन की बाबत उक्त धारा की उपधारा (1) में चर्चा की गई है और जिनकी आय को उसी धारा के अधीन कार्यवाहियों द्वारा विचाराधीन किया जा सकता है। इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जिन व्यक्तियों के बारे में इस अधिनियम की धारा 5(1) के अध्यधीन की गई जांच के दौरान यह पाया जाता है कि वे आयकर से बच निकले हैं और ऐसे व्यक्तियों के बीच के बारे में आयकर अधिकारी द्वारा यह पाया जाता है कि वे आयकर से बच निकले हैं उनके बीच लक्षणों या विशेषताओं के सम्बन्ध में ऐसी कोई असाधारण बात नहीं है। इसलिए इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों तथा सामान्य विशेषताओं एवं लक्षणों की बाबत यह अपेक्षा की जाती है कि उनके साथ समान रूप से व्यवहार किया जाए किन्तु यदि आयोग ऐसा चाहे तो उनमें से कुछ के साथ अधिनियम द्वारा अधिकथित निर्धारण के लिए प्रक्रिया जो अधिक कठोर एवं प्रतिकूल है, के अधीन विचार किया जा सकता है जब कि अन्य व्यक्तियों के साथ भारतीय आयकर अधिनियम की धारा 34 में उपवर्णित प्रक्रिया के अधीन कार्यवाही की जा सकती है। स्पष्ट है कि यह विभेदात्मक है और इसलिए धारा 5(4) के बारे में इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह विधिशून्य है और इस रूप में अप्रवर्तनीय है कि वह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है।

31. **श्री मीनाक्षी मिल्स लिमिटेड, मदुरई** बनाम **ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री**[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय का भी इस सम्बन्ध में उल्लेख किया जा सकता है। इस मामले में टैक्सेशन आन इन्कम (इन्वैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1947 की धारा 5(1) पर यह कहते हुए आक्षेप किया था कि वह सांविधानिक दृष्टि से अविधिमान्य है और आक्षेप का आधार यह था कि भारतीय आयकर अधिनियम (संशोधन) अधिनियम, 1954 के प्रवृत्त होने के पश्चात्, जिसके द्वारा भारतीय आयकर अधिनियम में धारा 34(1)(ए) अन्तःस्थापित की गई थी, धारा 5(1) विभेदात्मक तथा विधिशून्य हो गई थी क्योंकि धारा 34(1)-

---

1 (1955) 1 एस० सी० आर० 448.

(ए) जो बाद में अन्तःस्थापित की गई थी व; उसी क्षेत्र में लागू होती थी जिसमें कि धारा 5(1) इस आक्षेप को एकमत के निर्णय द्वारा कायम रखा गया था और उस मत को अपनाने में इस न्यायालय पर जिन आधारों का प्रभाव पड़ा था उन्हें मुख्य न्यायाधिपति महाजन के शब्दों में सर्वोत्तम रूप से बताया जा सकता है, जिन्होंने कि न्यायालय का निर्णय सुनाया था—

"संसद् ने भारतीय आयकर अधिनियम की धारा 34 का संशोधन करके अब यह उपबन्ध किया है कि उन्हीं व्यक्तियों के, जो कि मूलतः 1947 के अधिनियम संख्या 30 की धारा 5(1) की परिधि के अन्तर्गत आते थे और जिनके बारे में यह अभिकथन किया गया था कि वे एक सुभिन्न वर्ग गठित करते हैं उनकी बाबत संशोधित धारा 34 के अधीन तथा भारतीय आयकर अधिनियम में उपबन्धित प्रक्रिया के अधीन विचार किया जा सकता है। व्यक्तियों के दोनों प्रवर्ग अर्थात् वे जो कि धारा 5(1) की परिधि के अन्तर्गत आते हैं तथा वे जो कि धारा 34 की परिधि के अन्तर्गत आते हैं अब एक वर्ग गठित करते हैं। दूसरे शब्दों में सारवान् कर का अपवंचन करने वाले अथवा युद्ध का अनुचित लाभ उठाने वाले व्यक्ति, जिनके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि वे विद्वान् महा-न्यायवादी की दलील के अनुसार धारा 5(1) के अधीन एक निश्चित वर्ग गठित करते हैं और जिनके मामलों के बारे में यह आवश्यक है कि जिनके साथ अन्वेषण आयोग द्वारा विशेष व्यवहार किया जाए अब स्पष्ट रूप से भारतीय आयकर अधिनियम की धारा 34 (संशोधित) की परिधि के अन्तर्गत आते हैं। ऐसी स्थिति में उनके साथ विभेदात्मक व्यवहार करने का एकमात्र आधार अर्थात् यह कि वे अपने-आप में एक सुभिन्न वर्ग गठित करते हैं, पूर्ण रूप से विलुप्त हो गया है जिसके परिणामस्वरूप उनका विभेदात्मक व्यवहार संविधान के अनुच्छेद 14 की परिधि के अन्तर्गत आता है और इसलिए उनके विरुद्ध कार्यवाही करनी होगी। यह सभी व्यक्ति अब भली-भांति यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि अब हमारे साथ 1947 के अधिनियम संख्या 30 के विभेदात्मक एवं कठोर प्रक्रिया के अधीन क्यों विचार किया जाएगा जब कि हमारे समान स्थिति रखने वाले व्यक्तियों के साथ आयकर अधिकारी द्वारा अधिनियम की धारा 34 के संशोधित उपबन्धों के अधीन विचार किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में हमारे तथा आयकर से बच निकलने वाले उन व्यक्तियों के बीच, जिनकी बाबत आयकर अधिकारी द्वारा संशोधित अधिनियम की धारा 34 के उपबन्धों के अधीन पता चलता है विशेषताओं या लक्षणों के सम्बन्ध में कोई भी असामान्य बात नहीं है। हमारी राय में

इस प्रश्न का कोई समाधानप्रद उत्तर नहीं दिया जा सकता है क्योंकि जिस क्षेत्र में संशोधित धारा 34 लागू होती है उसके अन्तर्गत वह क्षेत्र भी आ जाता है जो पहले 1947 के अधिनियम संख्या 30 की धारा 5(1) द्वारा अधिभोग में रखा गया था और प्रक्रिया सम्बन्धी दो सारवान् रूप से भिन्न विधियां जिनमें से एक-दूसरे की अपेक्षा निर्धारिती के प्रति अधिक प्रतिकूल हो, संविधान के अनुच्छेद 14 की गारण्टी को ध्यान में रखते हुए, एक ही क्षेत्र में लागू नहीं हो सकती हैं।"

32. **एम० सी० टी० मुथीश और अन्य बनाम आयकर आयुक्त, मद्रास और एक अन्य वाले मामले**[1] में यह अभिनिर्धारित करते हुए कि यद्यपि टैक्सेशन आन इन्कम (इनवेस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1947 की धारा 5(1) उस समय विधिमान्य थी जब कि भारतीय आयकर अधिनियम की धारा 34(1) असंशोधित रूप में थी, तथापि वह भारतीय आयकर अधिनियमी की धारा 34(1) तथा बिज़िनस प्रॉफिट टैक्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1948 के संशोधित किए जाने पर शून्य एवं अप्रवर्तनीय हो गई क्योंकि उस समय यथा संशोधित धारा 34(1) उसी क्षेत्र में लागू होती थी जिसमें कि धारा 5(1) और उन मामलों पर जो धारा 5(1) के अन्तर्गत आते थे धारा 34(1) में अधिकथित प्रक्रिया के अधीन विचार किया जा सकता था।

33. इसलिए इन विनिश्चयों से यह स्पष्ट है कि जहां किसी दायित्व के अवधारण तथा प्रवर्तित किए जाने के लिए दो प्रक्रियाएं हों, चाहे वह दायित्व सिविल हो या दाण्डिक या राजस्व, जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा अधिक कठोर तथा प्रतिकूल हो, और वे दोनों एक ही क्षेत्र में लागू होते हों और उनके बारे में विधानमण्डल द्वारा इस बाबत कोई मार्गदर्शक नीति या सिद्धान्त उपस्थित न किया गया हो कि इस समय किसी एक या दूसरी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा जो अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रक्रिया के लिए उपबन्ध करने वाली विधि विभेदात्मक तथा विधिशून्य कह कर अभिखण्डित की जा सकती है। यह सिद्धान्त बीस वर्ष से भी अधिक समय के लिए प्रवृत्त रहा है और यह तर्क की दृष्टि से साधार एवं आपत्तिरहित है। किन्तु प्रत्यर्थी ने यह दलील देते हुए कि वह केवल वहां लागू होता है जहां कि विवेकाधिकार के प्रयोग का मार्ग-दर्शन करने और उसका नियन्त्रण करने के लिए विधानमण्डल द्वारा किसी नीति या सिद्धान्त की व्यवस्था किए बिना दो आनुकल्पिक प्रक्रियाओं को एक ही प्राधिकारी में निहित किया जाता है, वह केवल वहीं लागू होता है और वह ऐसी स्थिति में विधिमान्य नहीं होता जहां कि एक प्रक्रिया को लागू करना एक

[1] (1955) 2 एस० सी० आर० 1247.

प्राधिकारी के हाथ में हो और दूसरी प्रक्रिया को लागू करना दूसरे प्राधिकारी के हाथ में हो। प्रत्यर्थी ने इस बात का संकेत किया कि म्युनिसिपल ऐक्ट का अध्याय 5-ए इस बात को नगरपालिक आयुक्त के विवेकाधिकार पर नहीं छोड़ देता है कि वह अपनी मनमर्जी के अनुसार उस अध्याय में उपबन्धित विशेष प्रक्रिया को अपनाए अथवा जैसा भी वह ठीक समझे सिविल वाद की मामूली प्रक्रिया को अपनाए। निस्सन्देह अध्याय 5-ए में उपबन्धित विशेष प्रक्रिया को नगरपालिक आयुक्त लागू कर सकता है क्योंकि उसे धारा 105-बी (2) के अधीन नोटिस जारी करना होता है किन्तु जहां तक सिविल वाद की मामूली प्रक्रिया का सम्बन्ध है वह नगरपालिक आयुक्त के द्वारा आरम्भ किए जाने के लिए युक्त नहीं होती क्योंकि उस वाद को नगर-निगम द्वारा केवल तभी फाइल किया जा सकता है जब म्युनिसिपल ऐक्ट के उपबन्धों के अधीन स्थायी समिति का पूर्व अनुमोदन प्राप्त कर लिया गया हो। इसलिए दो आनुकल्पिक प्रक्रियाओं का मनमाना चुनाव एक ही प्राधिकारी के हाथ में नहीं रखा गया है और इस लिए अनुच्छेद 14 का कोई उल्लंघन नहीं किया गया है। हमारी राय में समता की गारण्टी के सार को ध्यान में रखते हुए प्रत्यर्थियों की यह दलील अमान्य है और उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यह वास्तविक सिद्धान्त के मिथ्या बोध पर आधारित है जिस पर कि इस न्यायालय ने उस विशेष प्रक्रिया के लिए उपबन्ध करने वाली विधियों का अभिखण्डन कर दिया है जो कि सारवान् रूप से मामूली प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक कठोर एवं प्रतिकूल है। यदि सिद्धान्त तथा पूर्वोदाहरणों को स्पष्ट रूप से समझा जाए तो सांविधानिक समता के इस पहलू से सम्बद्ध मिथ्या बोध का धुंधलापन दूर हो जाएगा। इस न्यायालय के विनिश्चयों से जो सिद्धान्त उत्पन्न होता है—और हमने पहले ही कुछ महत्वपूर्ण विनिश्चयों पर विचारविमर्श किया है—वह यह है कि जहां समान रूप में स्थित व्यक्तियों पर दायित्व के अवधारण के लिए दो प्रक्रियाएं लागू की जाती हैं जिनमें से एक प्रक्रिया दूसरे की अपेक्षा अधिक कठोर एवं प्रतिकूल है और विधानमण्डल द्वारा इस बारे में कोई मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किए जाते हैं कि कब एक प्रक्रिया का और कब दूसरी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा जिससे कि किसी एक व्यक्ति पर अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रक्रिया लागू की जाती है और दूसरे व्यक्ति पर अधिक पक्षपातपूर्ण प्रक्रिया लागू की जाती है और यह तब जबकि इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच प्रभेद के लिए कोई विधिमान्य न्यायोचित नहीं होता है तो अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रक्रिया की व्यवस्था करने वाली विधि विभेदात्मक कह कर अभिखण्डित की जा सकती है। समता खण्ड द्वारा लांछन लगाए जाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों प्रक्रियाओं के लागू किए जाने की बात एक ही प्राधिकारी के मनमाने विवेकाधिकार पर छोड़ दी गई हो। समता खण्ड

1974(4) eILR(PAT) SC 427

केवल वहां लागू होता है जहां विभेद किया गया हो चाहे उस विभेद का परिणाम कुछ भी हो। वह किसी सांविधानिक संकुचित सिद्धान्त अथवा कठोर सूत्र द्वारा निर्बन्धित नहीं होता है। जिन रीतियों में विभेद किया जा सकता है वे अगणित प्रकार की हैं। वे अनगिनत आकार धारण कर सकती हैं। किन्तु जहां कहीं यह पाया जाता है और, चाहे वह कैसे भी उत्पन्न हो वह समता खण्ड के दोष के अन्तर्गत आता है। इसलिए जैसे कि समान रूप से स्थिर व्यक्तियों के बीच होता है एक के साथ एक प्रक्रिया के अनुसार व्यवहार किया जाता है जबकि दूसरे पर दूसरी प्रक्रिया लागू की जाती है, जब कि प्रभेद के लिए कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है और एक प्रक्रिया दूसरे की अपेक्षा सारवान् रूप से अधिक कठोर एवं प्रतिकूल है वहां न्यायोचित विभेद का परिणाम निकलेगा चाहे इन दोनों प्रक्रियाओं के आरम्भ किए जाने के मनमाने रूप से लागू किए जाने का अधिकार एक ही प्राधिकारी में निहित हो या नहीं। वास्तव में अधिक कठोर एवं कष्टप्रद प्रक्रिया के अध्यधीन किए गए व्यक्ति के लिए यह सारहीन है कि क्या ऐसी प्रक्रिया सरकार या दो प्राधिकारी के किसी एक अंग या अभिकरण द्वारा प्रवर्तित की जाती है। यदि उसे यह बताया जाता है कि उसके साथ समान रूप से स्थित व्यक्तियों की अपेक्षा भिन्न रूप से व्यवहार किया जा रहा है, किन्तु प्रभेदात्मक व्यवहार सरकार या लोक प्राधिकारी के किसी अंग या अभिकरण की बजाय किसी अन्य अंग या अभिकरण द्वारा किया गया है तो इससे उसे कोई सांत्वना नहीं मिलेगी। उसका उत्तर तो यह होगा कि उसे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि सरकार या लोक प्राधिकार का अंग या अभिकरण चाहे कोई भी हो, जिसके द्वारा उसके विरुद्ध प्रभेदात्मक व्यवहार आरम्भ किया गया है उसका कारण राज्य शक्ति या लोक प्राधिकारी की शक्ति के व्यापक स्रोत से ही उत्पन्न होता है। सारवान् रूप से अधिक कठोर एवं कष्टप्रद प्रक्रिया के अपनाए जाने के कारण असमान व्यवहार उसके साथ प्रशासन द्वारा व्यापक अर्थों में किया जाएगा चाहे वे भिन्न-भिन्न अभिकरणों के रूप में विधिक दृष्टि से विशिष्टीकृत किए गए हों और उसे नुकसान तो समान रूप से ही पहुंचेगा। यहाँ हम साधारण व्यक्ति के साथ बरत रहे हैं और जब बेदखली के लिए उसके दायित्व का अवधारण करने के लिए उसके विरुद्ध कार्यवाही आरम्भ की जाती है तो उसके लिए यह बोधगम्य नहीं है कि वह नगरपालिक आयुक्त तथा नगर निगम या कलक्टर तथा सरकार के बीच प्रभेद कर सके। यह तो अत्यन्त तकनीकी रूप से कहने के समान होगा कि उसके विरुद्ध कार्यवाही नगर-निगम द्वारा अथवा सरकार द्वारा न की जा कर नगर-आयुक्त अथवा कलक्टर द्वारा की गई है। किसी कानूनी उपबन्ध की सांविधानिकता केवल इस बात पर निर्भर नहीं करती है कि जिन अभिकरणों द्वारा उसे नुकसान पहुँचाया गया है वे भिन्न भिन्न हैं

हालांकि वे दोनों सरकार अथवा नगर-निगम के भी अभिकरण हैं क्योंकि अन्यथा समता की गारण्टी का अपवंचन करना और इस सरकार या प्राधिकारी के अंग में मामूली प्रक्रिया आरम्भ करने की शक्ति निहित की गई है उससे भिन्न सरकार या लोक प्राधिकारी के अंग में अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रक्रिया विहित करने सम्बन्धी सक्षम तथा भलीभान्ति रूप से व्यवस्थित कानूनी उपबन्ध द्वारा उसके सार को छीन लिया जाएगा। यह विनाशकारी होगा। हमें सार पर ध्यान देना चाहिए न कि केवल प्रारूप पर। वास्तव में **सूरज मल मेहता वाले मामले**[1] तथा **मीनाक्षी मिल्स वाले मामले**[2] में इन्कम टैक्स (इनवैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट के अधीन विशेष प्रक्रिया केन्द्रीय सरकार द्वारा आरम्भ की जा सकती थी जब कि आयकर अधिनियम के अधीन मामूली प्रक्रिया एक अत्यन्त भिन्न प्राधिकारी द्वारा आरम्भ की जा सकती थी अर्थात् आयकर अधिकारी द्वारा, तथापि यह अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 5 की उपधारा (4) एक दशा में और धारा 5 की उपधारा (1) अन्य दशा में अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है क्योंकि ये दोनों प्रक्रियाएं, जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा सारवान् रूप से अधिक कठोर एवं प्रतिकूल है एक ही क्षेत्र में प्रवर्तित होती हैं और एक या दूसरी प्रक्रिया के बारे में विधानमण्डल द्वारा इस बाबत कोई मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किए गए हैं कि इनमें से किसे कब लागू किया जाएगा। इसके अतिरिक्त यह कहना सही नहीं है कि अध्याय 5-ए में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया को नगरपालिक आयुक्त ही आरम्भ करेगा। नगरपालिक आयुक्त के समक्ष नगर-निगम के सम्पदा अधिकारी द्वारा यह आवेदन किया जाएगा कि वह धारा 105-बी की उपधारा (2) के अधीन उसी प्रकार सूचना जारी करे जैसे कि सिविल न्यायालय के समक्ष नगर-निगम द्वारा अधिभोगी के विरुद्ध आदेश जारी किए जाने के लिए आवेदन किया जाता है। अनुकल्पतः इस मामले पर किंचित भिन्न दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। जब कोई नगरपालिक आयुक्त धारा 105-बी की उपधारा (2) के अधीन किसी अधिभोगी के विरुद्ध विशेष प्रक्रिया आरम्भ करते हुए सूचना जारी करता है तो वह वास्तविक रूप में नगर-निगम की ओर से और उसके फायदे के लिए कार्यवाही करता है और वह नगर-निगम के अधिकार को प्रवर्तित करने की कोशिश करता है। इसलिए अध्याय 5-ए में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया का वस्तुतः नगर-निगम ही लाभ उठाता है। इसलिए प्रत्यर्थियों द्वारा जो दलील दी गई है उसके आधार पर प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों में विभेद के विरुद्ध पूर्वोक्त नियम की परिधि तथा सार संकुचित नहीं किए जा सकते हैं और प्रस्तुत मामले में उसके लागू किए जाने की परिधि को समाप्त नहीं किया जा सकता है।

---

[1] (1955) 1 एस० सी० आर० 448.

[2] (1955) 1 एस० सी० आर० 787.

1974(4) eILR(PAT) SC 427

34. तत्पश्चात् प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई कि जहां किसी व्यक्ति के विरुद्ध दो प्रक्रियाएं उपलभ्य हों जिनमें से एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक तीव्र तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली हो और विधानमण्डल द्वारा इस बारे में कोई मार्गदर्शक सिद्धान्त या नीति अधिकथित न की गई हो कि कब उन दोनों प्रक्रियाओं में से किसी एक प्रक्रिया या दूसरी प्रक्रिया को अपनाया जायेगा तो यदि दोनों प्रक्रियाएं उचित हों तो समता खण्ड का कोई उल्लंघन नहीं होगा । दलील यह दी गई थी कि विधानमण्डल द्वारा जिस विशेष प्रक्रिया की व्यवस्था की गई थी यदि वह अन्यथा उचित तथा युक्तियुक्त हो तो वह समता खण्ड का उल्लंघन नहीं करेगी भले ही वह मामूली प्रक्रिया की अपेक्षा सारवान् रूप से अधिक तीव्र तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली हो। इस दलील के समर्थन में **नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में अल्पमत के निर्णय में दिये गए कुछ सम्प्रेक्षणों का हवाला दिया गया था। किन्तु हमारे विचार में समता की गारण्टी के संदर्भ में यह सावारण नहीं है यद्यपि अनुच्छेद 19 के अधीन युक्तियुक्त निर्बन्धनों के प्रति इसकी सुसंगति स्पष्ट है। जब हम अनुच्छेद 14 के अधीन किसी प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमें इस बात का अवधारण करने के लिए तुलनात्मक क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है कि क्या जहां तक दायित्व के अवधारण के लिए प्रक्रिया का सम्बन्ध है, समान रूप से स्थित व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जा रहा है। ऐसी विशेष प्रक्रिया जिस पर विभेदात्मक कह कर आक्षेप किया गया हो उसका औचित्य मात्र इस बात के लिए काफी नहीं है कि उसे अनुच्छेद 14 के प्रतिषेध में से बाहर निकाला जा सके। विशेष प्रक्रिया का औचित्य निस्सन्देह वहां सुसंगत होगा जहां कि विशेष प्रक्रिया पर यह कह कर आक्षेप किया जाता है कि वह अनुच्छेद 19 (1) (च) के अधीन अयुक्तियुक्त निर्बन्धक अधिरोपित करती है। वहां भी वह सुसंगत होगी जहां कि विशेष प्रक्रिया के बारे में यह कह कर आक्षेप किया जाता है कि वह यूनाइटेड स्टेट्स जैसे देश में सम्यक् प्रक्रिया खण्ड का उल्लंघन करती है। किन्तु जहां आक्षेप अनुच्छेद 14 के अधीन किया जाता है हमें इस बात पर विचार करना होता है कि क्या विधि के समक्ष समता है और वहां यह प्रश्न पूछा जायेगा और उसका उत्तर दिया जायेगा कि क्या वे दो प्रक्रियाएं सारवान् रूप से तथा गुणों की दृष्टि से इतनी भिन्न हैं कि उनके परिणामस्वरूप असमान व्यवहार होता है। विधि के समक्ष समता से किसी व्यक्ति को यह कह कर प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है कि यह सही है कि तुम्हारे साथ अन्य व्यक्तियों के मुकाबले में भिन्न व्यवहार किया जा रहा है जो कि तुम्हारे साथ समान स्थिति रखते हैं और निश्चित रूप से जो

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 399.

प्रक्रिया तुम पर लागू की जा रही है वह उस प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक तीव्र तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है जिसके अधीन दूसरों को रखा जा रहा है किन्तु तुम्हें इस बात की शिकायत नहीं करनी चाहिए क्योंकि जो प्रक्रिया तुम्हारे विरुद्ध अपनाई जा रही है वह बिलकुल उचित है। ऐसे व्यक्ति द्वारा यह प्रश्न पूछा जाना विधिसम्मत होगा कि भला मेरे बारे में अधिक तीव्र तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली प्रक्रिया क्यों लागू की जा रही है जब कि मेरे समान स्थित अन्य व्यक्तियों की बाबत मामूली प्रक्रिया लागू की जा रही है जो कि कम तीव्र तथा कष्टप्रद है ? अनुच्छेद 14 के आक्षेप का समाधान करने के लिए इस प्रश्न का युक्तियुक्त उत्तर देना आवश्यक है। इसलिए प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी जाना उचित नहीं है कि म्यूनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया उचित है और इसलिए इसे अनुच्छेद 14 की कसौटी पर परखना आवश्यक नहीं है।

35. मूल बातों को स्पष्ट करने के पश्चात् अब हम उस सिद्धान्त को लागू करेंगे जिसकी हमने ऊपर चर्चा की है और इस बात पर विचार करेंगे कि क्या म्यूनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5 में तथा गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट में अन्तर्विष्ट आक्षेपकृत उपबन्ध विभेदात्मक स्वरूप के होने के कारण शून्य तथा अप्रवर्तनीय हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है आक्षेपकृत उपबन्धों में अधिकथित विशेष प्रक्रिया के लागू किये जाने के लिए नगरपालिक अथवा सरकारी परिसरों के अधिभोगियों एवं अन्य परिसरों के अधिभोगियों के बीच भेद एक बोधगम्य सिद्धान्त पर आधारित है जिसका कि विधान के उद्देश्य के साथ स्पष्ट तथा युक्तियुक्त सम्बन्ध है और वह यह है कि सार्वजनिक हित में अनधिकृत अधिभोगियों से नगरपालिक अथवा सरकारी परिसरों के शीघ्र तथा त्वरित प्रत्युद्धरण को सुनिश्चित बनाया जा सके और इसलिए आक्षेपकृत उपबन्धों को इस आधार पर अविधिमान्य करार नहीं दिया जा सकता है कि वे नगरपालिक या सरकारी परिसरों के अधिभोगियों तथा अन्य परिसरों के अधिभोगियों के बीच अन्यायोचित विभेद करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है—और जिस दलील पर हमें विचार करना होगा वह यह है—कि क्या आक्षेपकृत उपबन्ध नगरपालिक अथवा सरकारी परिसरों के अधिभोगियों के बीच परस्पर विभेद अनुज्ञात करते हैं और वे इस कारण वैध हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि आक्षेपकृत उपबन्धों में अधिकथित विशेष प्रक्रिया और सिविल न्यायालय की मामूली प्रक्रिया, विधानमण्डल द्वारा इस बारे में किसी मार्गदर्शक नीति या सिद्धान्त के अधिकथित किए बिना कि किसी एक या दूसरी प्रक्रिया को कब अपनाया जायेगा नगरपालिक या सरकारी परिसरों के एक ही वर्ग के अधिभोगियों को लागू होती हैं जिससे कि नगरपालिक या सरकारी परिसरों के अधिभोगियों के एक ही वर्ग के बीच कुछ

व्यक्तियों के विरुद्ध नगर निगम या नगरपालिक आयुक्त या सरकार के मनमाने अनियन्त्रित विवेकाधिकार पर विशेष प्रक्रिया के अधीन कार्यवाही की जा सकती है जब कि अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध मामूली प्रक्रिया के अधीन कार्यवाही की जाने की छूट है। क्या आक्षेपकृत उपबन्ध नगर-निगम या नगरपालिक आयुक्त या सरकार में इस बात की आत्यन्तिक तथा मार्गहीन शक्ति निहित करते हैं कि आक्षेपकृत उपबन्धों में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया के अधीन कार्यवाही किये जाने के लिए नगरपालिका या सरकारी परिसरों के अधीन विचार किये जाने के लिए चुन लिए जाएं और अन्य व्यक्तियों को सिविल वाद की मामूली प्रक्रिया के अधीन कार्यवाही किये जाने के लिए रख दिया जाए ? **नार्दर्न इण्डिया केटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य**[1] में बहुमत के विनिश्चय से यह सुझाव मिलता दिखाई देता है कि आक्षेपकृत उपबन्ध इस दोष से पीड़ित हैं किन्तु यह सही नहीं है। नार्दर्न इण्डिया केटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य में बहुमत के विनिश्चय में यह त्रुटि थी कि वहां ऐसे मामलों में जहां विधानमण्डल स्वयं व्यक्तियों या वस्तुओं का पूर्ण रूप से वर्गीकरण करता है और उन्हें वह विधि लागू करता है जो उसके द्वारा अधिनियमित की गई है और जहां कि विधानमण्डल केवल उस विधि को अधिकथित करता है जो ऐसे व्यक्तियों या वस्तुओं को लागू की जाएगी जो किसी विशेष वर्णन के अनुकूल हों या सामान्य वस्तुएं रखती हों और इस बात पर ध्यान देते हुए कि सुनिश्चित तथा पूर्ण वर्गीकरण करना असम्भव है, वह इस बात को किसी प्रशासनिक प्राधिकारी पर छोड़ देती है कि वह परिभाषित वर्ग के अन्दर व्यक्तियों या वस्तुओं को विधि को चुनाव करते हुए लागू करे और वहां उस मानक को अधिकथित कर दिया जाता है या कम से कम स्पष्ट शब्दों में यह उपदर्शित कर दिया जाता है कि अन्तर्निहित नीति और प्रयोजन क्या हैं जिनके अनुसार और जिनकी पूर्ति करते हुए प्रशासनिक प्राधिकारी से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह विधि के प्रवर्तन में लाए जाने वाले व्यक्तियों या वस्तुओं का चुनाव करे। यह स्मरणीय है कि जीवन की अनेक जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए कई प्रकार की स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं जो कि किसी निश्चित सूत्र के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं और न ही उनका किसी निश्चित कठोर विभागों में वर्गीकरण किया जा सकता है। कोई भी वर्गीकरण तर्क की दृष्टि से पूर्ण नहीं हो सकता है और न ही वह ऐसा सुनिश्चित हो सकता है कि उसमें साहुली के यन्त्र द्वारा निश्चित सीधापन आ सके। जीवन को स्थिर विभाजन एवं प्रवर्गों में नहीं बांटा जा सकता है और यह सम्भव नहीं है कि मानविक कार्यकलाप के अनेक पूर्ण पहलुओं तथा नाना रूपों को अप्राप्य

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 399.

हिंसात्मक शय्या के साथ जकड़ा जा सके और यह सही भी है क्योंकि अन्यथा जीवन यन्त्रात्मक हो जाएगा और उसमें जो अनेक-रूपता होनी चाहिए वह नष्ट हो जाएगी। इसलिए विधानमण्डल केवल यही कर सकता है कि व्यापक प्रवर्गों को निश्चित करे और विधानमण्डल के अधीन जो नीति और उसका प्रयोजन है उसे उपदर्शित करे और इस बात को किसी निश्चित प्राधिकारी पर छोड़ दे कि ऐसी नीति और प्रयोजन के अनुसार विधि को सोच-समझ कर जहां-तहां लागू करे। यह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं होगा क्योंकि ऐसी दशा में प्रवरण करने का विवेकाधिकार के मार्गयुक्त तथा नियन्त्रित विवेकाधिकार होगा न कि आत्यन्तिक तथा विवेकाधिकार। न्यायाधिपति मुखर्जी ने **कठी रेनिंग रावत वाले मामले**[1] में यह कहा था "× × × × × यदि विधायी नीति स्पष्ट तथा निश्चित हो और उस नीति को कार्यान्वित करने की प्रभावी पद्धति के रूप में परिनियम द्वारा शासकों या अधिकारियों के निकाय में यह विवेकाधिकार निहित किया गया हो कि वे व्यक्तियों के कुछ वर्गों या समूहों को विधि को सोच-समझ कर जहां-तहां लागू करें तो उस परिनियम को विभेदात्मक विधान कह कर रद्द नहीं किया जा सकता है। जब विधि जो कुछ कर सकती है वह आवश्यकता के अनुसार होता है तो इससे नीति उपदर्शित होती है और जहां तक उसकी पद्धति से सम्भव हो वह सभी समान रूप से स्थित व्यक्तियों या वस्तुओं को अपनी परिधि के अन्तर्गत लाती है। (देखिए बक बनाम बेल[2]) ऐसे मामलों में कार्यपालिक निकाय को दी गई शक्ति में यह कर्त्तव्य अन्तर्वलित है कि वह परिनियम में उपदर्शित उद्देश्य के अनुसार विधानमण्डल की विषयवस्तु का वर्गीकरण करे। ऐसी परिस्थितियों में शासकीय अभिकरणों को जो विवेकाधिकार प्रदत्त किया जाता है वह मार्गहीन विवेकाधिकार नहीं है। उसका प्रयोग उस नीति के अनुसार करना होता है जिसके लिए विवेकाधिकार दिया जाता है और वर्गीकरण के औचित्य की परीक्षा उसी उद्देश्य के सम्बन्ध में करनी होगी। इसलिए यह कहना सम्भव नहीं है कि केवल इस कारण कि नगर-निगम या नगरपालिक आयुक्त या सरकार उस बात के लिए विवश नहीं है कि वे नगरपालिक या सरकारी परिसरों के सभी अधिभोगियों के विरुद्ध आक्षेपकृत उपबन्धों में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया को अपनाए बल्कि उसे इस विषय में विवेकाधिकार दिया गया है तो आक्षेपकृत उपबन्ध अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करते हैं। हमें देखना यह है कि क्या ऐसा कोई मानक आक्षेपकृत उपबन्धों में उपदर्शित है या ऐसी किसी नीति और प्रयोजन को प्रकट किया गया है जिसके अनुसार और

[1] (1952) एस० सी० आर० 435.

[2] 274 यू० एस० 200, 208.

जिसकी पूर्ति करते हुए नगरपालिक निगम या नगरपालिक आयुक्त या सरकार से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह विशेष प्रक्रिया के अधीन कार्यवाही किए जाने के लिए नगरपालिक या सरकारी परिसरों के अधिभोगियों को चुने। यदि विशेष प्रक्रिया को सोच-समझ कर जहां-तहां लागू करने के लिए नगर निगम या नगरपालिक आयुक्त या सरकार को प्रदत्त किया गया विवेकाधिकार मार्गयुक्त तथा नियन्त्रित विवेकाधिकार है तो आक्षेपकृत उपबन्ध विभेद के दोष से मुक्त होंगे। यह अपरिहार्य है कि जब किसी निश्चित व्यक्ति वर्ग के लिए विशेष प्रक्रिया विहित की जा रही हो जैसे कि नगरपालिक या सरकारी परिसरों के अधिभोगियों के लिए तो विवेकाधिकार जो विधानमण्डल में निहित नीति तथा प्रयोजन द्वारा युक्त तथा नियन्त्रित हो तो उसे निश्चित रूप से शासनिक प्राधिकारी पर छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह विशेष प्रक्रिया के प्रवर्तन में लाए जाने के लिए नगरपालिक या सरकारी परिसरों के अधिभोगियों का चुनाव कर सके। प्रत्येक मामले में अनेक प्रकार के फेरफार हो सकते हैं जो कि प्रत्येक मामले के विशेष तथ्यों तथा परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं और यह भी हो सकता है कि कुछ मामले ऐसे हों, जैसे कि विधि या तथ्य के जटिल प्रश्नों को अन्तर्वलित करने वाले मामले, जहां कि विशेष प्रक्रिया, जो कि तुलनात्मक दृष्टि से संक्षेप प्रकृति की हो, न्याय के हित में उपयुक्त न पाई जाए। नगरपालिक या सरकारी परिसरों के अधिभोगियों के लिए यह अजीब और निश्चित रूप से कठोर तथा कष्टप्रद होगा यदि नगरपालिक आयुक्त या सरकार को इस बात के लिए मजबूर किया जाए कि वह ऐसे मामलों में विशेष प्रक्रिया को अपनाए। विवाद की प्रकृति, विचारार्थ उठने वाले प्रश्नों की जटिलता और ऐसे प्रश्नों का विनिश्चय करने के लिए न्यायनिर्णयन करने वाले प्राधिकारी की विधिक सक्षमता सभी पर सार्वजनिक उपयोग के लिए नगरपालिक या सरकारी परिसरों के स्वीकृत तथा त्वरित प्रत्युद्धरण के लिए आवश्यकता के साथ-साथ विचार करना होगा क्योंकि वह विधानमण्डल में अन्तर्निहित मूल नीति तथा प्रयोजन है और नगर निगम या नगरपालिक आयुक्त या सरकार को इन बातों द्वारा दिए गए मार्गदर्शन के अनुसार विनिश्चय करना होगा कि क्या किसी विशेष मामले में विशेष प्रक्रिया अपनाई जानी चाहिए अथवा नगरपालिक या सरकारी परिसरों के अधिभोगी के विरुद्ध मामूली प्रक्रिया के अनुसार कार्यवाही की जानी चाहिए। इस प्रकार विधानमण्डल ने इस बारे में स्पष्ट मार्गदर्शन प्रस्तुत किया है कि कब विशेष प्रक्रिया अपनाई जानी चाहिए और कब किसी मामले को मामूली प्रक्रिया के अधीन निपटाए जाने के लिए रख दिया जाना चाहिए और आक्षेपकृत उपक्रमों में विभेद का दोष विद्यमान् नहीं है।

36. यह मत जो कि हमने सिद्धान्त के आधार पर अपनाया है कोई नई या असाधारण चीज नहीं है। यह तो इस न्यायालय के कम-से-कम दो विनिश्चयों में निर्धारित मार्ग का अनुसरण करता है। पहला विनिश्चय **केदार नाथ बेजोरिया बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य**[1] वाला विनिश्चय है। वहां भी यह दलील दी गई थी कि यदि अनिश्चित अपराध और उन्हें करने के लिए दोषारोपित व्यक्ति समुचित रूप से एक ऐसा वर्ग गठित कर सके जिसकी बाबत विशेष विधान अधिनियमित किया जा सके तो वैस्ट बंगाल क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट (स्पेशल कोर्ट) ऐक्ट, 1949 की धारा 4(1) विभेदात्मक तथा विधिशून्य होगी क्योंकि वह प्रान्तीय सरकार में एक अनियन्त्रित विवेकाधिकार निहित करती है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति का विशेष मामला है जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया हो कि उसने ऐसा अपराध किया है जो किन्हीं ऐसे प्रवर्गों के अन्तर्गत आता है जो विशेष प्रक्रिया के अधीन विचारण किए जाने के लिए विशेष न्यायालय को आबंटित किए जाने के लिए है जब कि उसी वर्ग के अन्य अपराधो मामूली न्यायालयों द्वारा विचारण किए जाने के लिए रख दिए जाते हैं। यह दलील दी गई कि धारा 4(1) प्रान्तीय सरकार को इस बात के लिए अनुज्ञात करती है कि वह एक ही अपराध या अपराधों से दोषारोपित व्यक्तियों के बीच विभेदात्मक रूप से चुनाव कर सके जिससे कि उनका विशेष न्यायालय द्वारा विचारण किया जाए और प्रवरण की ऐसी आत्यन्तिक तथा मार्गहीन शक्ति, यद्यपि उसका प्रयोग अनुसूची में वर्णित अपराधों के वर्ग या वर्गों के भीतर किया जाएगा, विभेदात्मक है। पिटीशनरों की ओर से दी गई इस दलील को मुख्य न्यायाधिपति पातंजलि शास्त्री ने न्यायालय का बहुमत का निर्णय सुनाते हुए रद्द कर दिया था और यह कहा था —

> "इस दलील में ऐसे मामलों के बीच, जिनमें कि स्वयं विधानमण्डल व्यक्तियों या वस्तुओं का पूर्ण वर्गीकरण करता है और उन्हें वह विधि लागू करता है जो उसके द्वारा अधिनियमित की गई है और ऐसे व्यक्तियों के बीच जहां कि विधानमण्डल केवल यह अधिकथित कर देता है कि किसी विशेष वर्णन के अनुकूल व्यक्तियों या वस्तुओं को या ऐसे व्यक्तियों अथवा वस्तुओं को जो कुछ विशेष लक्षण प्रदर्शित करती हों विधि क्या होगी किन्तु निश्चित तथा पूर्ण वर्गीकरण न कर सकने के कारण इस बात को प्रशासनिक प्राधिकारी पर छोड़ देता है कि वह निश्चित वर्ग के भीतर व्यक्तियों या वस्तुओं की विधि को सोच-समझ कर जहां-तहां लागू करे और केवल ऐसे मानक अधिकथित कर दिए जाते हैं या कम-से-कम स्पष्ट शब्दों में यह उपदर्शित कर दिया जाता है कि वह नीति तथा प्रयोजन क्या

[1] (1954) एस० सी० आर० 30.

होगा जिसके अनुसार और जिसकी पूर्ति करते हुए प्रशासनिक प्राधिकारी से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह व्यक्तियों या वस्तुओं का चुनाव करे जिन्हें विधि के प्रवर्तन के अधीन लाया जा सके। इस प्रकार के विधान के बारे में एक सुपरिचित उदाहरण निवारक निरोध अधिनियम, 1950 है जिसमें कि यह उपदर्शित करते हुए कि मामलों के किन वर्गों में और किन प्रयोजनों के लिए निवारक निरोध का आदेश दिया जा सकता है। कार्यपालक प्राधिकारी में विवेकाधिकार सम्बन्धी शक्ति निहित कर दी गई है कि वह उस विधि के अधीन लाए जाने के लिए विशिष्ट व्यक्ति का चुनाव कर ले। इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण दण्ड प्रक्रिया संहिता के ऐसे उपबन्धों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जिनमें कि सरकार की मंजूरी के बिना ऐसे अपराधों के लिए अभियोजन से उन्मुक्ति दी जाती है जो कि लोक सेवकों द्वारा उनके शासकीय कार्य के सम्बन्ध में किए गए हों और जहां विधि की नीति यह है कि लोकपदाधिकारियों को निजी अभियोजन द्वारा तब तक अनुचित रूप से तंग नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि सरकार की राय में उस लोक सेवक पर मुकदमा चलाने के लिए युक्तियुक्त आधार न हों और मंजूरी की शर्तें तदनुसार ही रखी गई हैं। इसलिए यह कहना सही नहीं है कि अधिनियम की धारा 4 संविधान के अनुच्छेद 14 का केवल इस कारण उल्लंघन करती है कि सरकार को इस बात के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता है कि वह अपराधों के सभी ऐसे मामलों को जो अनुसूची में उपवर्णित किए गए हैं विशेष न्यायाधीश को आबंटित करे बल्कि सरकार में इस मामले में विवेकाधिकार निहित किया गया है। अपनी बहस के दौरान श्री चटर्जी ने हमारे ध्यान में कलकत्ता उच्च न्यायालय का वह निर्णय लाया है जो कि जे० के० गुप्ता बनाम राज्य[1] में दिया गया था जहां एक विशेष न्यायपीठ (मुख्य न्यायाधिपति हैरीज़, न्या० दास तथा दास गुप्त) का यह मत था कि जिस अधिनियम पर अब आक्षेप किया जा रहा है उसके द्वारा अपराधों का कोई एक या अधिक विधिमान्य वर्ग गठित नहीं किए गए हैं और यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि वर्गीकरण के बारे में यह मान लिया जाए कि वह उचित है, धारा 4(1) संविधान के अनुच्छेद 14 के अधिकारातीत है क्योंकि राज्य को यह विवेकाधिकार दिया गया है कि वह विशेष न्यायालय को मामलों का आबंटन करे या न करे, जैसे कि राज्य सरकार उचित समझे और इस बारे में वह एक ही वर्ग के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों के साथ, जिनके द्वारा एक ही अपराध किया गया हो, विभेद करता है।

[1] (1952) 56 सी० डब्ल्यू० एन० 701.

हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। एक ही प्रकार के अपराधों के किए जाने के बारे में उनके तथ्यों और परिस्थितियों के सम्बन्ध में मामलों में अनेक प्रकार के भेद हो सकते हैं और उन मामलों में से बहुत से मामले ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें ऐसी कोई बात न हो कि विशेष अधिनियम के उपबन्धों को लागू किया जाए। उदाहरणार्थ, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 414 तथा 417 अधिनियम की अनुसूची में अन्तर्विष्ट अपराधों में आती है किन्तु उनका विचारण दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 260 के अधीन संक्षिप्त रूप में दिया जाता है जहां कि सम्पत्ति का मूल्य पचास रुपये से अधिक न हो। यह अति विचित्र बात होगी यदि सरकार को इस विषय में मजबूर किया जाए कि वह ऐसे छोटे-छोटे मामलों को वारण्ट मामलों के रूप में विशेष न्यायालय द्वारा विचारण के लिए रखे जहां कि दोषसिद्धि की दशा में उच्च न्यायालय में अपील की जा सके। इससे पूर्व कि कोई मामला विशेष न्यायालय को आबंटित किया जाए जिससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह उसके द्वारा विचारण किए गए तथा दोषसिद्ध किए गए प्रत्येक अपराध पर प्रतिकरात्मक दण्डादेश अधिरोपित करे, किसी अपराध विशेष की गम्भीरता, उसकी हानि की क्षतिपूर्ति द्वारा सरकार को होने वाला लाभ और इस प्रकार के अन्य विचार्य विषयों पर विचार करना पड़ सकता है। यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि यदि अपराधियों के कुछ वर्गों के अधिक प्रभावी रूप से दण्डित किए जाने के लिए विशेष मशीनरी को व्यवस्था से बचना है तो किसी सक्षम प्राधिकारी को यह शक्ति दी जाए कि वह ऐसे मामलों का चुनाव करे जिनकी बाबत विशेष अधिनयम के अधीन कार्यवाही की जाए।"

इस सम्बन्ध में जिस दूसरे विनिश्चय का हम हवाला दे सकते हैं, वह ए० थंगलकुंजु मुसालियर बनाम एम० वेंकटचलम पोट्टी[1] वाला मामला है। वहां ट्रावनकोर टैक्सेशन आन इन्कम (इनवैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1124 की सांविधानिक विधिमान्यता पर मुख्य रूप से इस आधार पर आक्षेप किया गया था कि उसके द्वारा विहित निर्धारण सम्बन्धी प्रक्रिया 1121 के ट्रावनकोर अधिनियम संख्या 23 की धारा 47 के अधीन विहित प्रक्रिया के मुकाबले में विभेदात्मक थी। इस आक्षेप को इस मत के आधार पर नामंजूर कर दिया गया था कि धारा 5(1) के अधीन जिन व्यक्तियों के बारे में विचार किया जाता है वे आयकर से सारवान् रूप से बचने वाले व्यक्तियों का एक सुभिन्न वर्ग गठित करते हैं जिनके बारे में यह अपेक्षा की जाती है कि उनके साथ ट्रावनकोर टैक्सेशन आन इन्कम टैक्स (इनवैस्टीगेशन कमीशन) ऐक्ट, 1124 द्वारा उपबन्धित कठोर

[1] (1955) 2 एस० सी० आर० 1196.

प्रक्रिया के अधीन विशेष बर्ताव किया जाए। किन्तु आनुकल्पिक तर्क के तौर पर यह दलील दी गई कि यद्यपि जिन व्यक्तियों के विरुद्ध धारा 5(1) के अधीन कार्यवाही की जा सकती है वे अपने-आप में एक सुभिन्न वर्ग गठित करते हैं और उनका निर्धारण करने के लिए विशेष प्रक्रिया का उपबन्ध करने के लिए युक्तियुक्त न्यायोचित्य विद्यमान् है फिर भी अधिनियम की धारा 5(1) के निबन्धनों के अन्तर्गत सरकार इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि ऐसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के बीच जो कि एक ही वर्ग या प्रवर्ग के अन्तर्गत आते हैं विभेद कर सके। हो सकता है कि सरकार 'क' व्यक्ति का मामला आयोग के प्रति निर्दिष्ट करे और 'ख' व्यक्ति के मामले को 1121 के ट्रावनकोर ऐक्ट संख्या 23 में अधिकथित प्रक्रिया के अधीन विचार किए जाने के लिए छोड़ दे। यह दलील ऐसी ही दलील है जैसी कि हमारे समक्ष प्रस्तुत की गई है और इसके द्वारा धारा 5(1) की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप किया गया है कि वह ऐसे व्यक्तियों के बीच विभेदात्मक है जो कि आयकर से सारवान् रूप से बचने वाले व्यक्तियों के प्रवर्ग में आते हैं। किन्तु इस न्यायालय ने इस दलील को नामंजूर कर दिया और न्यायाधिपति एन० एच० भगवती ने न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त किया—

> "किन्तु एक ही वर्ग या प्रवर्ग के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों के ऐसे ही विभेदात्मक व्यवहार की सम्भाव्यता निश्चित रूप से इस प्रकार के विधान को अविधिमान्य नहीं बना देती है। जब तक कि तत्प्रतिकूल दर्शित न किया गया हो यह उपधारणा करनी होगी कि किसी विधि विशेष को कुदृष्टि तथा असमान रूप से लागू नहीं किया जाएगा और आयोग द्वारा अन्वेषण के लिए निर्दिष्ट किए जाने वाले व्यक्तियों के मामलों का सरकार द्वारा किया गया चयन विभेदात्मक नहीं होगा।"

तत्पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश ने **कटी रेनिंग रावत वाले मामले**[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय का हवाला दिया और उनका यह कहते हुए उपसंहार किया—

> "इसलिए यह परिणाम निकलता है कि यह तथ्य मात्र कि सरकार को यह शक्ति सौंपी गई है कि वह आयोग के प्रति निर्देश किए जाने के लिए आयकर से सारवान् रूप से बच निकलने वाले व्यक्तियों के वर्ग या प्रवर्ग के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों के मामलों का चयन कर सके धारा 5 (1) को विभेदात्मक तथा विधि-शून्य नहीं बना देगा। सरकार द्वारा उस प्रवर्ग के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों के मामलों का चयन केवल इस कारण विभेदात्मक कह कर आक्षेपकृत नहीं किया जा सकता है कि उसे सरकार के मार्गहीन या अनियन्त्रित विवेकाधिकार पर नहीं छोड़ा गया

[1] (1952) एस० सी० आर० 435.

है। चयन का मार्गदर्शन उसी उद्देश्य से होता है जो कि स्वयं धारा 5(1) के निबन्धनों में उपवर्णित किया गया है और उसी उद्देश्य की प्राप्ति उस विवेकाधिकार को नियन्त्रित रखती है जो सरकार में निहित है और आयोग द्वारा अन्वेषण के निर्दिष्ट किए जाने वाले व्यक्तियों के मामलों के आवश्यक चयन करने में सरकार का मार्गदर्शन करती है। इसलिए इस बात पर विवाद नहीं किया जा सकता है कि अधिनियम की धारा 5(1) में वर्गीकरण का विधिमान्य आधार विद्यमान् है।"

केदार नाथ बजोरिया वाले मामले[1] तथा ए० थंगलकुन्जु मुसलियर वाले मामले[2] में दिए गए विनिश्चयों के इन लेखांशों से विभेद पर आधारित पिटीशनरों/अपीलार्थियों की दलील का अत्यन्त समाधानप्रद रूप से खण्डन हो जाता है।

37. यहां इस बात का उल्लेख कर दिया जाए कि केदार नाथ बजोरिया बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य[1] तथा के ए० थंगलकुन्जु मुसालियर बनाम एन० वेंकटचलम[2] वाले विनिश्चयों के प्रति उन विद्वान् न्यायाधीशों का ध्यान आकर्षित नहीं किया गया था जिन्होंने नार्दर्न इण्डिया केटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य[3] वाले मामले का विनिश्चय किया था। यदि उनका ध्यान इन विनिश्चयों के प्रति आकर्षित किया गया होता तो उसमें इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि अधिक संख्यक न्यायाधीशों द्वारा वह विनिश्चय न लिया गया होता जो कि उन्होंने दिया था। हमारी यह राय है कि नार्दर्न इण्डिया केटरर्स लिमिटेड बनाम पंजाब राज्य[3] में जो विनिश्चय दिया गया था वह सही विधि का निरूपण नहीं करता है और उसे उलट दिया जाना चाहिए। म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए तथा गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट की सांविधानिक विधिमान्यता के विरुद्ध जो आक्षेप किया गया है उसका तदनुसार खण्डन कर दिया जाना चाहिए।

38. इस विचार के आधार पर यह अनावश्यक प्रतीत होता है कि इस बात पर विचार किया जाए कि क्या म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5 ए में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया सिविल वाद की मामूली प्रक्रिया की अपेक्षा सारवान् रूप से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है। यह एक और अपेक्षा है जिसे म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में उपबन्धित विशेष प्रक्रिया को विभेदात्मक कह कर रद्द करने से पूर्व पूरा किया जाना चाहिए। साधारणतया हमें इस बात पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं थी कि क्या यह अपेक्षा पूरी की गई है या नहीं क्योंकि ऐसा करना अनावश्यक है। किन्तु चूंकि हमने

[1] (1954) एस० सी आर० 30.

[2] (1955) 2 एस० सी० आर० 1196.

[3] (1967) 3 एस० सी० आर० 399.

यह देखा है कि इस प्रश्न के बारे में कुछ भ्रम है जिसे स्पष्ट करना आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि इस प्रश्न के सम्बन्ध में अनिश्चितता की जो धुन्ध छाई हुई है उसे दूर किया जाए इसलिए हम इस प्रश्न पर विचार करना चाहेंगे। आरम्भ में ही हम यह संकेत कर दें और इस बात पर सदैव ध्यान रखना होगा क्योंकि अन्यथा यह सम्भाव्य है कि अनुच्छेद 14 का समुचित स्वरूप विकृत हो जाएगा, कि इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच मामूली भेद इस बात के लिए काफी नहीं है कि समता खण्ड के प्रतिषेध का आश्रय लिया जा सके। यदि हम समानता की इस गारण्टी से मकड़ी का जाल बनाने में लग जाएं अथवा प्रक्रिया सम्बन्धी छोटे-छोटे भेदों के बारे में अत्यधिक विचार करते हुए उनकी छानबीन करना शुरु कर दें तो समता खण्ड विधि सम्बन्धी पाण्डित्य के लिए सुचारु विषय बन जाएगा और उसका वास्तविक प्रयोजन समाप्त हो जाएगा जो वह है कि जनसाधारण अर्थात् कसाई, नानबाई तथा मोमबत्ती बनाने वाले के साथ समान व्यवहार किया जाए। समता खण्ड का आशय वास्तविक तथा सारवान् भेदों को क्षति पहुंचाना है चाहे वे अधिष्ठायी हों या प्रक्रिया सम्बन्धी और कार्यपालिका के ऐसे कृत्यों को आघात पहुंचाना है जो मनमाने या सनकपूर्ण हों और यह बात समता खण्ड के उद्देश्य तथा आशय के प्रतिकूल होगी कि सूक्ष्म भेदों, कठोरता की रेखाओं तथा प्रतिकूल प्रभाव की सैद्धान्तिक सम्भाव्यताओं को विधायी असमता अथवा कार्यपालक विभेद का रूप दिया जाए। अनुच्छेद 14 के बारे में हमारा दृष्टिकोण ऐसा होना चाहिए कि उसमें पर्यवेक्षा तथा समनुपात की धारणा हो जो दृढ़ अर्थबोध पर आधारित हो तथा अत्यन्त सूक्ष्म सुभेदों से सम्बन्धित न हो। प्रक्रिया सम्बन्धी क्षेत्र में विभेद के विरुद्ध संरक्षण का समस्त आकार वास्तविक तथा सारवान् रूप से अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली हो और मात्र अति सूक्ष्म ऐसे विभेद न हों जो कि इस त्रुटिपूर्ण मानविक अभिकरणों के अपूर्ण संसार में विद्यमान रहने वहां आवश्यक हैं जहां कि दो प्रक्रियाएं विहित की गई हों। जब हम जीवन की लचीली वास्तविकताओं की बाबत चर्चा करते हैं तो हमें सैद्धान्तिक तथा अति सूक्ष्म दृष्टिकोण से दूर रहना चाहिए।

39. यहां हम यह मत भी व्यक्त कर दें कि ऐसा कोई जादुई सूत्र नहीं है जिसके द्वारा यह कहा जा सके कि एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक कठोर तथा कष्टप्रद है। इसका यह परिणाम नहीं निकलता है कि केवल इस कारण कि किसी एक प्रक्रिया में सिविल न्यायालय के कोरम की व्यवस्था की गई है इसलिए दूसरी प्रक्रिया निश्चित रूप से पहली प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक कठोर एवं कष्टप्रद है। हम ऐसी निरपेक्ष प्रस्थापना को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। वास्तव में कई बार जब कोई निर्धन व्यक्ति किसी सिविल न्यायालय में नियमित वाद में फंस जाता है तो वह उसी में खो जाता है क्योंकि उसकी मुकदमा संबंधी

पद्धति अति विस्तृत, खर्चीली तथा डांवाडोल करने वाली होती है जिसके परिणामस्वरूप साधारण व्यक्ति को प्राय: विनाश का सामना करना पड़ता है और परिणामस्वरूप वह अपेक्षाकृत एक त्वरित तथा कम खर्चीला माध्यम है यद्यपि उसमें ऐसा प्रशासनिक कार्मिक रहता है जो कि न्यायालय की सूक्ष्म पद्धति में प्रशिक्षित नहीं होता है और उसमें कष्टदायी शर्तों पर लगाए गए काउन्सेल की लम्बी तथा जटिल ब्रीफ्स की सहायता भी प्राप्त नहीं होती है तो भी इस देश में बहुत लोगों द्वारा बेहतर समझा जाता है सिविल न्यायालय की प्रक्रिया बहुत-सी तकनीकी जटिलताओं से भी ग्रस्त होती है। वह साक्ष्य के ऐसे नियमों पर अग्रसर होती है जो कभी-कभी अत्यन्त तकनीकी होते हैं और वह साक्ष्य सम्बन्धी सामग्री को केवल तभी प्राप्त करती है जब वह विहित प्रक्रियाओं के माध्यम से अभिलेख पर लाई जाए भले ही अन्य उपायों से स्थिति को बेहतर समझना सम्भव हो और वह केवल ऐसी सामग्री के आधार पर कार्यवाही करती है जो अभिलेख पर लाया गया हो और इस सम्बन्ध में कई बार ऐसी बातों को ध्यान से अपवर्जित कर दिया जाता है जो कि सामान्य ज्ञान तथा अनुभव द्वारा सचाई पर पहुंचने में उपयोगी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त वह न्याय प्रशासन की प्रतिकूल प्रणाली के आधार पर कर्त्तव्यशील होती है जिसके परिणामस्वरूप जहां विरोधी मुकदमेबाज समान रूप से सन्तुलित न हों वहां विषमता आ सकती है। यह भी सम्भव है कि कुछ प्रकार के मामलों में लोगों को वहां बेहतर न्याय मिल सकता है जहां कि न्यायिक प्रारूपिकता को स्थान दिया गया हो और प्रक्रिया को अनौपचारिक बनाया गया हो। उत्तरोत्तर अपीलों की पद्धति जो कि न्यायिक शृंखला में अपनाई गई है प्राय: ऐसी जीत में परिणत होती है जिसे प्राप्त करने में अत्यधिक हानि उठानी पड़ी हो और न्याय में विलम्ब रूपी परिणाम निकलने से उससे परेशानी अधिक होती है। इसलिए हम इस बात को स्वयंसिद्ध अपवाद अथवा सर्वमान्य साधारण नियम के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि प्रशासनिक अधिकरण और सिविल न्यायालय उससे पश्चादुक्त सदैव पूर्वोक्त की अपेक्षा कृत्यों की दृष्टि से बेहतर होता है। हम ऐसे न्याय प्रशासन की पद्धति में विकसित हुए हैं जहां कि सिविल न्यायालयों के ऐसे मुख्य प्राधिकारी रहे हैं जिन्हें विवादों का विनिश्चय करने का काम सौंपा जाता है और इसलिए जब कभी विधानमण्डल द्वारा ऐसी विशेष व्यवस्था की जाती है जिसके अनुसार विवादों के अभिनिश्चय की शक्ति किसी अन्य प्राधिकारी को सौंपी जाती है जो विधानमण्डल द्वारा न्यायालयों के स्थान पर साबित की गई हो तो हमारा मस्तिष्क, जो कि न्यायालयों की ऐतिहासिक विद्यमानता से सीमित है और इसलिए उसमें प्रचलित न्याय प्रशासन की पद्धति जिसमें कि न्यायालय होते हैं, के लिए रुचि ग्रहण कर ली है ऐसे प्राधिकारी की स्थापना के विरुद्ध प्रतिकूल

1974(4) eILR(PAT) SC 427

प्रक्रिया दर्शित करता है। हमें चाहिए कि हम न्याय प्रशासन की विद्यमान पद्धति के लिए अपनी विशेष रुचि का त्याग कर दें जो कि दीर्घ समय से प्रचलित रही है और विधानमण्डल द्वारा स्थापित विशेष मशीनरी की निरपेक्ष रूप से तथा उदासीन होकर जांच करें जब कि हमारे मन में उसके विरुद्ध कोई पूर्व रचित भावना या तत्प्रतिकूल विचार विद्यमान् न हो और इस बात का पता चलाया जाय कि क्या विशेष मशीनरी सिविल न्यायालय की पुरातन मैशीनरी की अपेक्षा वस्तुतः तथा सारवान् रूप से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है। जब हम यह कहते हैं तो हम सिविल न्यायालयों द्वारा किए गए प्रशासन को उच्च गुणों की अवहेलना नहीं करते जो कि उसके अभिन्न अंग हैं अर्थात् उदासीनता तथा निष्पक्षपात, दृष्टिकोण में निरपेक्षता, सूक्ष्म ग्राह्यता तथा नैसर्गिक न्याय के सम्मान तथा साक्ष्य का चयन करने में एवं विधि के निर्वचन तथा उसके लागू किए जाने में विशेषज्ञता। किन्तु हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि प्रशासनिक अधिकरण की मशीनरी आवश्यक रूप से तथा सदैव सिविल न्यायालय की मशीनरी की अपेक्षा अधिक कठोर तथा कष्टप्रद नहीं होती है। इन दोनों प्रक्रियाओं की तुलना निरपेक्ष रूप से तथा पक्षपातरहित हो कर करनी होगी और इस बात का अवधारण करने में कि क्या एक पद्धति दूसरी पद्धति की अपेक्षा वस्तुतः तथा सारवान् रूप से अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है किसी विशेष रुचि अथवा प्रतिकूल प्रभाव के बिना करना होगा।

40. यदि हम अपने समक्ष प्रश्न की परीक्षा इन सामान्य सम्प्रेक्षणों के प्रकाश में करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में उपवर्णित विशेष प्रक्रिया सिविल न्यायालय की मामूली प्रक्रिया की अपेक्षा सारवान् रूप से अधिक कठोर एवं प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली नहीं है। बेदखली के दायित्व का अवधारण करने के लिए प्रारम्भिक प्राधिकारी निस्सन्देह नगरपालिक आयुक्त है जो कि नगर निगम का मुख्य कार्यपालक अधिकार है और हो सकता है कि उसे कोई विधि सम्बन्धी प्रशिक्षण प्राप्त न हो किन्तु म्युनिसिपल ऐक्ट की धारा 68 में यह उपबन्ध किया गया है कि इस कृत्य का निर्वहन किसी भी नगरपालिक अधिकारी द्वारा किया जाएगा जिसे नगरपालिक आयुक्त सामान्य रूप से अथवा विशेष प्रकार से लिखित रूप में उस निमित्त सशक्त करे और इसलिए नगरपालिक आयुक्त नगर-निगम के विधिक विभाग से सम्बद्ध उप-नगरपालिक आयुक्त को प्राधिकृत कर सकता है जो कि विधि में प्रशिक्षण प्राधिकारी होता है कि वह इस कृत्य का निर्वहन करे और वास्तव में हमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि नगरपालिक आयुक्त विधि में प्रशिक्षण प्राप्त न हो तो वह ऐसा करेगा। इसलिए बेदखली सम्बन्धी दायित्व का अवधारण वस्तुतः व्यवहारिक

रूप से ऐसे नगरपालिक अधिकारी द्वारा किया जाता है जिसे समुचित तथा पर्याप्त विधि सम्बन्धी प्रशिक्षण प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त जिस अधिभोगी के विरुद्ध विशेष प्रक्रिया चालू की जाती है उसे यह अधिकार होगा कि वह लिखित कथन फाइल कर सके और दस्तावेज पेश कर सके और इस बात के लिए भी हकदार होगा कि वह साक्षियों की परीक्षा तथा प्रतिपरीक्षा कर सके। नगरपालिक आयुक्त अथवा जांच करने वाले अन्य अधिकारी को यह शक्ति दी गई है कि वह साक्षियों को समन कर सके और उन्हें हाजिर करा सके और शपथ पर उनकी परीक्षा कर सके और साथ ही दस्तावेजों के प्रकटीकरण तथा प्रस्तुत किए जाने की अपेक्षा कर सके। अधिभोगी को भी यह हक दिया गया है कि वह किसी अधिवक्ता, अटर्नी या प्लीडर की मार्फत उपसंजात हो सके। इस प्रकार वास्तव में तथा सारवान् रूप से जिस प्रक्रिया का सिविल न्यायालय में अनुसरण किया जाता है वही प्रक्रिया नगरपालिक आयुक्त अथवा जांच करने वाले अन्य अधिकारी के समक्ष कार्यवाही में उपलभ्य की गई है। इसके अलावा नगरपालिक आयुक्त अथवा अन्य अधिकारी के विनिश्चय के विरुद्ध अपील का भी अधिकार दिया गया है और अपील का यह अधिकार किसी ज्येष्ठ एवं अत्यधिक अनुभव प्राप्त न्यायिक अधिकारी को होता है न कि मामूली कार्यपालिक अधिकारी को। अपील सिटी सिविल न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के समक्ष अथवा बृहत्तर मुम्बई के अन्य ऐसे न्यायिक अधिकारी के समक्ष की जा सकती है जिसे अन्यून दस वर्ष का इस रूप में अनुभव प्राप्त हो और जिसे प्रधान न्यायाधीश तन्निमित्त पदाभिहित करे और यह अपील विधि एवं तथ्य दोनों के सम्बन्ध में होती है। यह सही है कि अपील आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन नहीं किया जा सकता है किन्तु यदि अपील शक्ति से युक्त किया गया न्यायिक अधिकारी अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहता है या अपनी अधिकारिता के बाहर जा कर कार्यवाही करता है या विधि सम्बन्धी ऐसी गलती करता है जो कि अभिलेख को देखने मात्र से प्रत्यक्ष है या उसके द्वारा दिए गए विनिश्चय के परिणामस्वरूप न्याय का गम्भीर ह्रास होता है तो व्यथित पक्षकार इस बात के लिए सदैव स्वतन्त्र है कि वह उस मामले को अनुच्छेद 226 या 227 के अधीन परीक्षा किए जाने के लिए उच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इसलिए अन्तिम विनिश्चय एक ऐसे न्यायिक अधिकारी का विनिश्चय होता है जिसे विधि की कला अथवा हुनर का प्रशिक्षण होता है न कि कोई कार्यपालक अधिकारी। यह समझना कठिन है कि भला महत्वपूर्ण सार्वजनिक उपयोग के लिए इस्तेमाल किए जाने के लिए सार्वजनिक परिसरों के शीघ्र तथा द्रुतर प्रत्युद्धरण के लिए आवश्यकता के संदर्भ में जहां कि प्रक्रिया की विस्तीर्णता से प्रत्युद्धरण का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा, म्युनिसिपल ऐक्ट के अध्याय 5-ए में उपवर्णित विशेष

प्रक्रिया के बारे में—और यह समान रूप से गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (एविक्शन) ऐक्ट में उपवर्णित प्रक्रिया को भी लागू होता है—यह समझा जा सकता है कि वह सिविल न्यायालय की मामूली प्रक्रिया की अपेक्षा वस्तुतः तथा सारवान् रूप से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली है। हमारे विचार में ये दोनों प्रक्रियाएं सारवान् रूप से तथा गुणों की दृष्टि से इतनी तीव्र नहीं हैं कि वे विभेद के दोष के अन्तर्गत आ सकें।

41. परिणामस्वरूप, सभी रिट पिटीशन असफल होते हैं और खारिज किए जाते हैं। रिट पिटीशनों में पिटीशनर केवल इसी न्यायालय का खर्च देंगे। जहां तक अपीलों का सम्बन्ध है वे खण्ड न्यायपीठ के समक्ष अन्तिम रूप से निपटाए जाने के लिए भेजी जाएंगी।

न्यायाधिपति खन्ना—

42. मैं इस बात के बारे में सहमत हूं कि रिट पिटीशन खारिज कर दिए जाएं, किन्तु मैं अपना निष्कर्ष इस आधार पर रखूंगा कि आक्षेपकृत उपबन्धों द्वारा विहित प्रक्रिया सिविल प्रक्रिया संहिता में अन्तर्विष्ट प्रक्रिया की तुलना में अधिक कष्टप्रद अथवा कठोर नहीं है। मेरे विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति अलगिरि-स्वामी ने बाम्बे म्युनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट तथा बाम्बे गवर्नमेण्ट प्रेमिसेज (इविक्शन) ऐक्ट में अन्तर्विष्ट आक्षेपकृत उपबन्धों का विश्लेषण किया है। उससे यह प्रतीत होता है कि पंजाब पब्लिक प्रेमिसेज एण्ड लैण्ड (इविक्शन एण्ड रेण्ट रिकवरी) ऐक्ट, 1959 जिन त्रुटियों से पूर्ण है, उनमें से कुछ त्रुटियां आक्षेपकृत अधिनियमिति में विद्यमान नहीं हैं। आक्षेपकृत उपबन्धों में प्रभावित पक्षकार को सूचना दिए जाने की व्यवस्था की गई है। ऐसे पक्षकार को उन आधारों से अवगत कराना होता है, जिन पर बेदखली के लिए आदेश देने की प्रस्थापना है और उसे इस बात का अवसर दिया जाना होता है कि वह लिखित कथन फाइल कर सके तथा दस्तावेज पेश कर सके। पक्षकारों का प्रतिनिधित्व वकील द्वारा भी किया जा सकता है। सिविल प्रक्रिया संहिता के वे उपबन्ध जो व्यक्तियों को समन करने और उन्हें हाजिर कराने की बाबत और उनकी शपथ की परीक्षा करने की बाबत हैं तथा ऐसे उपबन्ध जो दस्तावेजों के प्रकटीकरण तथा पेश किए जाने की बाबत हैं, एक मूल्यवान रक्षोपाय की व्यवस्था करते हैं। व्यथित पक्षकार को अपील करने का अधिकार होता है और यह अपील प्रशासनिक अधिकारी के समक्ष नहीं की जाती बल्कि वह सिटी सिविल न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश अथवा जिला न्यायाधीश की हैसियत के न्यायिक अधिकारी को की जाती है। यह भी स्पष्ट है कि यदि सम्बद्ध अधिकारी अपनी अधिकारिता के बाहर कार्यवाही करता है तो उसके आदेश पर संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 227 के अधीन आक्षेप किया जा सकता है। इसलिए मैं

यह अभिनिर्धारित करूंगा कि आक्षेपकृत उपबन्धों में प्रकल्पित प्रक्रिया इतनी कष्टप्रद तथा कठोर नहीं है कि उससे विभेद का अनुमान लगाना न्यायोचित समझा जाए। यह तथ्य मात्र कि ऐसे दो फोरम हैं जिनकी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हैं, आक्षेपकृत उपबन्धों के अभिखण्डित किए जाने के लिए इस रूप में न्यायोचित नहीं है कि वे अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करते हैं, विशेष रूप से वहां जहां कि दोनों ही प्रक्रिया उचित हैं और नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल हैं। मैं अपने विद्वान् बन्धु न्या० भगवती से सहमत हूं कि अनुच्छेद 14 के प्रतिषेध को आकर्षित करने के लिए आवश्यक यह है कि दोनों प्रक्रियाओं के बीच सारवान तथा गुणों की दृष्टि से विशेष भेद को जिससे कि एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया की अपेक्षा वस्तुत: सारवान् रूप से अधिक कठोर तथा प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली हो और हमें जीवन की अनेक वास्तविकताओं पर विचार करते समय सैद्धान्तिक तथा सूक्ष्म दृष्टिकोण से बचना चाहिए।

43. मैं इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों में जो मत अभिव्यक्त किया गया है, उसे विचार किए बिना, उलटने की प्रवृत्ति के विरुद्ध चेतावनी के बारे में भी कुछ कहना चाहूंगा। हो सकता है कि कुछ विचार धाराओं में यह भावना घर कर गई हो कि, जैसा कि कारडेजो के शब्दों में है, पूर्वोदाहरण हमारे ऊपर छा गए हैं और हम पर गालिब हो गए हैं और हमें विनिष्ट करते जा रहे हैं और अपनी उपासना करने वाले को आच्छादित करते हैं तथा विनष्ट करते हैं, जो कि उनके समर्थकों में पूजा करते हैं। इस प्रकार वातावरण नए धर्मों से परिपूर्ण है, जो पुरातन धारणाओं का खण्डन कर रहे हैं उनमें से कुछ हमें यह कहते हैं कि शब्दों में जो कि बाहरी संकेत मात्र है, सुनिश्चितता ढूंढने की बजाए हमें किसी गहरी चीज की खोज करनी चाहिए। एक ऐसी निश्चित सापेक्षिक तथा अस्थायी वस्तु की खोज करनी चाहिए जो कि रेत पर खुदा हुआ ऐसा लेख हो जो कि बढ़ते हुए ज्वार भाटे द्वारा मिटाया जा सकता है। उनमें से कुछ तो हमें यह भी सलाह देते हैं कि हम अप्राप्य आदर्श के लिए इन इच्छाओं से अपने आपको दूर कर लें और इस मिथ्या खोज को छोड़ दें और एक ऐसे व्यवहारिक वाद से संतुष्ट हो जाएं जिससे कि मन में पूर्ण सत्य के लिए किए गए प्रयत्नों की अशान्ति न रहे। (सिलेक्टिड राइटिंग्स ऑफ बेंजामिन नाथन कारडोज़ो, पृष्ठ 9 देखिए) जहां कि निश्चितता तथा निरन्तरता को विधि के नियम के आवश्यक तत्व समझा जाता है। यदि देश के सर्वोच्च न्यायालय पूर्ववर्ती मामलों में अपने द्वारा अभिव्यक्त किए गए मत को आसानी से उलट देता है तो विधि में निश्चितता पर्याप्त रूप से समाप्त हो जाएगी और उसे गम्भीर धक्का पहुंचेगा। भले ही वह मत अनेक वर्षों से विद्यमान रहा हो। अनेक मामलों में जो इस न्यायालय के समक्ष आते हैं, दो मत संभव होते हैं और केवल इस कारण कि

1974(4) eILR(PAT) SC 42

न्यायालय यह समझता है कि पूर्ववर्ती मामले में इस न्यायालय ने जो मत नहीं अपनाया था, वह मामले का बेहतर मत था, इस बात को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है कि उस मत को उलट दिया जाए। इस न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि संविधान के अनुच्छेद 341 के अधीन देश के सभी न्यायालयों पर आबद्धकर और देश भर में अनेक ऐसे मामले इस न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत के अनुसार विनिश्चित किए जाते हैं, बहुत से लोग इस न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत के उचित होने के विश्वास पर अपने क्रिया कलाप को व्यवस्थित करते हैं और इसी आधार पर अनेक संव्यवहार किए जाते हैं। यदि, इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि जिसके आधार पर अनेक मामले विनिश्चित हो चुके हैं। और अनेक संव्यवहार संपन्न हो चुके हैं, उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि वह सही विधि नहीं है तो इससे अनिश्चितता, अस्थिरता तथा भ्रम पैदा हो जाएगा। निस्संदेह यह न्यायालय समूचे मामलों में उस मत को उलट सकता है जो कि उसने पहले अपनाया था, किन्तु ऐसा केवल तभी होना चाहिए जबकि उसके लिए विवशकारी कारण हों। कई बार इस बात की आवश्यकता को अनुभव किया जा सकता है कि निर्णीतानुसार के सिद्धान्त की अत्यधिक कठोरता को समाप्त कर दिया जाए। जैसा कि ब्रान्डिज द्वारा मत व्यक्त किया गया था, "इन सांविधानिक मामलों में भी निर्णीतानुसरण एक वांछनीय बात है, किन्तु उनमें यह कभी भी समादेश का रूप धारण नहीं करती है।" (देखिए अनपब्लिश्ड ओपिनियन्स, पृष्ठ 152) हो सकता है कुछ नए पहलू प्रकाश में आ जाएं और यह आवश्यक हो जाए कि उन नई स्थितियों से निपटने के लिए अथवा ऐसी कठिनाइयों पर काबू पाने के लिए, जो कि पहले प्रकाश में नहीं आई थीं, या जिनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था, जबकि पूर्ववर्ती मत प्रतिपादित किया गया था, नए आधारों पर विचार किया जाए। पूर्वोदाहरण का अपना मूल्य होता है और किसी मामले का विनिश्चयाधार निस्संदेह भावी मामलों के विनिश्चय में मदद दे सकता है। साथ ही साथ हमें जैसा कि कारडोजो ने मत व्यक्त किया है इस विचार के बारे में सतर्क रहना चाहिए कि चूंकि बहुत से सिद्धान्तों का सूत्र-पात किसी समस्या विशेष के विनिश्चयाधार के रूप में कर दिया गया है, इसलिए उसे कड़ाई से तथा स्वतः उसकी सर्वाधिक व्यापकता में अन्य समस्याओं के उचित समाधान लागू किए ही जाने चाहिएं, भले ही उसके परिणाम कुछ भी हों और उसके परिणामस्वरूप कुछ प्रतिकूल तत्व उत्पन्न हो जाएं। जैसा कि जीवन में होता है, उसी प्रकार विधि के क्षेत्र में भी स्थिति गतिहीन नहीं होती है। जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नए विचारों तथा प्रगतियों के आ जाने के परिणामस्वरूप नए पहलू तथा क्षितिज प्रकट हो सकते हैं। यदि विधि को मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करना है और जीवन की समस्याओं का समाधान करना है तो यह

आवश्यक है कि वह नई स्थितियों से जूझने के लिए अपने आपको अनुकूल बनाए। कोई भी व्यक्ति ऐसी दूरदर्शिता से युक्त नहीं होता है कि वह पहले से ही सभी संभव मानविक घटनाओं की कल्पना कर सके। क्या उनमें से प्रत्येक समस्या के लिए उचित नियम विहित कर सके। साथ ही साथ इस बात पर ध्यान रखना होगा कि विधि की प्रगति की एक निरन्तर प्रक्रिया होती है और उसे केवल तभी इच्छा की ओर मोड़ा जा सकता है जब विधि को स्वयं जीवन से दूर रखने का जोखिम उठाया जाए। जब खण्डन किए जाने वाले नियम का मूल रूप ऐसी संस्थाओं या दशाओं की उत्पत्ति रही हो जिनका समय के साथ-साथ नया महत्व तथा विकास रहा हो तो किसी अमान्य स्थिति का त्याग करने में विशेष हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विधि का कोई ऐसा नियम, जो दूर की पीढ़ियों में पना हो पूर्ण अनुभव के आधार पर ऐसा पाया जाए कि वह किसी अन्य पीढ़ी में उचित रूप से कृत्यशील नहीं हो सकता है। न्यायालय इस बात की इजाजत नहीं देता कि उसे किसी ऐसे मत से बांध दिया जाए और वह इसका बंदी बन जाए, जिसके बारे में पश्चात्‌वर्ती अनुभव के आधार पर यह पाया जाए कि वह स्पष्ट रूप से त्रुटिपूर्ण रूप से अयुक्तियुक्त है अथवा उससे कठिनाई उत्पन्न होती है या स्पष्ट विषमता अथवा सार्वजनिक असुविधा पैदा होती है। न्यायालय को निश्चितता तथा निरन्तरता की आवश्यकता के बीच संतुलन रखना होता है और प्रगति तथा विधि के विकास की वांछनीयता में संतुलन बनाए रखना होता है। वह न तो न्यायिक निर्णयों द्वारा विधि को इस बात के लिए अनुज्ञात कर सकती है कि वह मृत कठोरता का स्वरूप धारण कर ले और न ही वह इस बात की इजाजत दे सकती है कि स्थिर सिद्धान्त को क्रान्तिकारी ध्वंसक वादों द्वारा विनष्ट कर दिया जाए। एक ओर आवश्यकता यह सुनिश्चित बनाने की है कि न्यायिक बुद्धि का पतन या ह्रास नहीं होगा और दूसरी ओर इस प्रवृत्ति को रोकना आवश्यक है कि साधारण मामलों में सुस्थापित सिद्धान्तों के स्थान पर नए-नए सिद्धान्त अधिकथित किए जाएं और इससे पूर्व कि नए सिद्धान्तों की पवित्रता की समयानुसार पुष्टि हो सके, उन्हें अत्यन्त शीघ्र-विधि का रूप देने में जल्दबाजी करने की प्रवृतियों को रोकना आवश्यक है। इस व्यावहारिक विचार के समर्थकों के लिए कि सिद्धान्तों तथा नियमों का उद्देश्य के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए, यह भी आवश्यक है कि वे इस सच्चाई पर ध्यान दें कि जिन उद्देश्यों को पूरा करना है, वे स्वयं सर्वोत्तम तथा सर्वथा स्पष्ट हैं। साथ ही साथ विधि की प्रकृति, जो कि न्यायिक निर्णयों पर प्रक्रिया द्वारा अनुज्ञेय है और विधि में होने वाले व्यापक परिवर्तन केवल तभी किए जा सकते हैं जब विधान बनाया जाता है। जैसा कि न्यायाधिपति कार्डोजो ने मत व्यक्त किया था:—

"मेरे विचार में पूर्वोदाहरण के प्रति निष्ठा नियम होना चाहिए, न कि अपवाद। मुझे पहले भी इस बात का अवसर प्राप्त हुआ है कि मैं कुछ ऐसे विचारों की चर्चा करूं जो इसका समर्थन करते हैं। उनमें मैं यह भी जोड़ देता हूं कि यदि प्रत्येक भूतपूर्व विनिश्चय को प्रत्येक मामलों में फिर से खोला जा सके और दूसरों के द्वारा जो उनसे पूर्व विद्यमान थे, निर्धारित मार्गों की पक्की बुनियाद पर ईंटों से स्वयं अपना मार्ग न बनाया जा सके तो न्यायाधीशों के परिश्रम में अत्यधिक वृद्धि हो जाएगी। किन्तु यदि न्यायालय के गठन में प्रति सप्ताह होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ उसके निर्णयों में भी परिवर्तन होते जाते हैं तो स्थिति असह्य हो जाएगी। ऐसी परिस्थितियों में केवल यही कहना होगा कि हम पूर्ववर्ती सप्ताह के अपने बन्धुओं की त्रुटियों को सहन करें, चाहे उन्हें हम पसन्द करें या न करें। किन्तु मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार हूं कि पूर्वोदाहरण का अनुकरण करने का नियम, यद्यपि उसका त्याग नहीं किया जाना चाहिए, उसे कुछ हद तक शिथिल बना दिया जाना चाहिए। मेरे विचार में जब कोई नियम उस अनुभव के आधार पर कसौटी पर सम्यक् रूप से कसे जाने के पश्चात् न्याय बुद्धि अथवा सामाजिक कल्याण के साथ असंगत पाया जाता है तो गलती को स्वीकार करने में विशेष हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए और उसका पूर्ण रूप से परित्याग कर देना चाहिए। सांविधानिक विधियों के क्षेत्र में भी हमें कई बार ऐसा करना पड़ा है।" (देखिए सिलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ बेंजामिन नाथन कार्डोजो बाई मार्ग्रेट हाल पृ० 170-171)

44. जहां तक इस न्यायालय के पूर्ववर्ती मत के उलट दिए जाने का प्रश्न है, ऐसा केवल तभी किया जाना चाहिए जब विनिर्दिष्ट आकस्मिकता विद्यमान हों। यह बात एक व्यापक प्रस्थापना के रूप में अधिकथित की जा सकती है कि कोई ऐसा मत, जो लम्बी कालावधि के लिए स्वीकार किया जाता रहा है, उसमें तब तक विघ्न नहीं डालना चाहिए जब तक कि न्यायालय निश्चायक रूप से यह न कह सके कि वह गलत या अयुक्तियुक्त था या वह ऐसा मत था कि उसके परिणामस्वरूप जनता को कठिनाई या असुविधा पहुंचती है। अपने पूर्ववर्ती विनिश्चयों के उलट दिए जाने के बारे में प्रश्न पर इस न्यायालय द्वारा **बंगाल इम्यूनिटी कम्पनी लिमिटेड बनाम बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में विचार किया गया था। कार्यकारी मुख्य न्यायाधिपति दास ने अमेरिकी, आस्ट्रेलियन तथा प्रिवी कौंसिल के विनिश्चयों में से हवाले देने के पश्चात् निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

"न्यायिक विनिश्चयों की अन्तिमता के सिद्धान्त के प्रति निर्देश किया

[1] (1955) 2 एस० सी० आर० 603.

गया है और हमारे सामने इस बात पर जोर दिया गया है कि हमें अपने पूर्ववर्ती विनिश्चय को नहीं उलटना चाहिए, सिवाए ऐसे मामले में, जिनमें कि विधि के किसी तात्विक उपबन्ध की उपेक्षा की गई हो या जहां विनिश्चय किसी निरसित या अवसित परिनियम के जारी रहने की गलत उपधारणा के आधार पर अग्रसर हुआ हो और हमें केवल इस कारण पूर्ववर्ती विनिश्चयों से मतभेद दर्शित नहीं करना चाहिए कि हमें उसके प्रतिकूल मत बेहतर प्रतीत होता है। यह कहना आवश्यक है कि हमें इस न्यायालय के किसी पूर्ववर्ती निर्णय से बिना सोचे समझे विमति प्रकट करनी चाहिए। पुनर्विलोकन की शक्ति, जो निस्सन्देह विद्यमान् है, सम्यक् सावधानी तथा पूर्वावधानी के साथ प्रयोग में लाई जानी चाहिए और उसे केवल सार्वजनिक कल्याण की प्रकृति के लिए प्रत्येक मामले से सम्बन्धित परिस्थितियों के प्रकाश में, जो हमारे ध्यान में लाई गई हों, प्रयोग में लाया जाना चाहिए। किन्तु हम यह सही नहीं समझते हैं कि हम अपनी शक्ति को कड़ाई से नियत की गई सीमाओं के अन्दर बांध लें, जिसका कि हमारे सामने सुझाव दिया गया है। यदि प्रश्न की पुनः परीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, जैसा कि वास्तव में हम पहुंचे हैं, कि पूर्ववर्ती बहुमत का विनिश्चय स्पष्ट रूप से त्रुटिपूर्ण था, तो ऐसा कहना हमारा कर्त्तव्य होगा और वह भी कि हम ऐसी दशा में भी अपनी गलती को निरन्तर न बनाए रखें जबकि किसी विद्वान् न्यायाधीश द्वारा, जो कि पूर्ववर्ती विनिश्चय की न्यायपीठ में था, उसे अधिक विचार करने पर गलत समझता है। चूंकि हमारा विनिश्चय सांविधानिक प्रश्न के सम्बन्ध में है और हमारी गलत विनिश्चय द्वारा उपभोग करने वाली जनता पर अवैध कर लगाया गया है, और उससे सार्वजनिक असुविधा या कठिनाई उत्पन्न हुई है, इसलिए हमें और भी शीघ्र ऐसा करना चाहिए। क्योंकि संविधान का संशोधन करना आसान बात नहीं है। कभी भी हमारे पूर्ववर्ती विनिश्चयों को प्रश्नगत करने के लिए तुच्छ प्रयास किए जाते हैं, किन्तु जिन कारणों पर हमारे विनिश्चय आधारित हैं, यदि वे साधार हों तो वे अपने आप में ऐसे तुच्छ प्रयत्नों के विरुद्ध पर्याप्त रक्षोपाय होंगे। इसके अलावा निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त न्यायालय के किसी अकेले तथा असम्बद्ध विनिश्चय को लागू नहीं होता है, जो कि हाल ही में दिए गए हों और जिसका अनुसरण उस पर आधारित अनेक विनिश्चयों द्वारा न किया गया हो। हमारे समक्ष जो समस्या है, उसमें विनिश्चयों की किसी श्रृंखला को उलटने की बात नहीं आती है बल्कि उसमें केवल प्रश्न यह अन्तर्वलित है कि क्या हमें पूर्वोदाहरण के रूप में,

बहुत हाल ही के एक विनिश्चय का अननुमोदन करना चाहिए या उसका अनुसरण या व्युतसरण करना चाहिए। किसी भी दशा में निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त विधि का कड़ा नियम नहीं है और उसे जन साधारण के सामान्य कल्याण या उसके किसी प्रवर्ग के सामान्य कल्याण के विरुद्ध की गई हमारी गलतियों को स्थायी बनाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है।"

45. उपर्युक्त का यह परिणाम हो सकता है कि यद्यपि इस न्यायालय ने अपने पूर्ववर्ती निर्णयों में अभिव्यक्त किए गए मत को उलटने और उससे विचलित होने की अपनी शक्ति की पुष्टि की है, उसने साथ ही साथ इस बात के महत्व पर भी जोर दिया है कि इसन्यायालय के पूर्ववर्ती निर्णयों के साथ भलीभांति सोचे बिना विमति प्रकट नहीं करनी चाहिए।

46. ऊपर प्रतिपादित सिद्धान्त को लागू करते हुए भी, मेरा यह मत है कि **नार्दर्न इंडिया केटरर्स वाले मामले**[1] में बहुमत द्वारा व्यक्त किए गए मत को उलटने के लिए पर्याप्त आधार दर्शित नहीं किया गया है। हो सकता है कि उस मामले में जो अल्पमत व्यक्त किया गया था, वह अधिक अच्छा प्रतीत हो, किन्तु यह बात अपने आप में यह दर्शित नहीं करती है कि नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स वाले मामले में जो निर्णय लिया गया था, वह प्रत्यक्ष रूप से गलत था और इसलिए उसे उलटना अपेक्षित है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त विनिश्चय से जनसाधारण को असुविधा तथा कठिनाई हुई है। विधानमण्डल ने नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स वाले मामले में दिए गए विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए अनेक अधिनियमितियों में आवश्यक संशोधन कर दिए हैं जिससे कि वे अधिनियमितियां जिन विषयों से सम्बन्धित हैं, उनमें सिविल न्यायालयों की अधिकारिता वर्जित कर दी गई है। नार्दर्न इण्डिया कैटरर्स वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय के परिणामस्वरूप जिस कठिनाई का अनुभव किया गया था, उसे दूर करने के लिए किसी सांविधानिक संशोधन की आवश्यकता नहीं थी।

47. इसलिए मेरा यह मत है कि इस मामले के प्रयोजन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि **नार्दर्न इंण्डिया केटरर्स**[2] वाले मामले में बहुमत के विनिश्चय को उलट दिया जाए।

रिट पिटीशन खारिज किए गए।

भू०/

---

[1] (1960) 3 एस० सी० आर० 399.

[2] (1960) 3 एस० सी० आर० 399.